तरुण-भारत-ग्रन्थावली-सं० ४५

मानस-प्रतिमा

लेखक

दुर्गाप्रसाद झुंझनूंवाला बी० ए०

प्रकाशक

लक्ष्मी-आर्ट-प्रेस, दारागंज, प्रयाग

प्रथमावृत्ति] सं० १९९५ वि० [मूल्य १॥)

भूमिका

हिन्दी साहित्य में आज-कल कहानियों और उपन्यासों की भरमार है, और होना भी चाहिए, क्योंकि जनता मे कुछ न कुछ पढने की रुचि बढने के लिए इस प्रकार के मनोरजक साहित्य की हर समय आवश्यकता रहती है—विशेषकर आजकल, जब कि देहातों मे भी सर्वसाधारण जनता मे साक्षरता का प्रचार बढते जा रहा है, कहानियों और उपन्यासों के लिखे जाने की बडी जरूरत है, परन्तु इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि जहां सर्वसाधारण जनता में पढने की रुचि बढती है, वहां पाठको की रुचि मे सुरुचि और कुरुचि का प्रचार भी बढ सकता है। उपन्यास और कहानियां इस समय ऐसी लिखी जानी चाहिए कि जो हमारी जनता की भावनाएं राष्ट्र के उत्थान की ओर बढा सके।

हमारे कई कलाकार लेखक कहेगे कि कवि या लेखक कोई कथक्कड कथावाचक पंडित नहीं है, जो जनता को उपदेश देने के लिए व्यासगद्दी पर बैठा हो—कलाकार अपनी रचना अपनी रुचि के अनुसार करता है—कला किसी की परवा नही करती—वह तो अपने रास्ते पर अपने लिए ही अन्धाधुन्ध चलती है। ठीक है। तो क्या कलाकार कोई प्राणहीन जीव है, जिसमे जनता की भावनाओं से अनुप्राणित होने की

शक्ति नहीं है—क्या वह जनता के अन्दर का प्राणी नहीं है—वह किस जगत् में विचरण करनेवाला है—कला को मनुष्य ने ही तो सिरजा है, अथवा कला ने मनुष्य को बनाया है? हम ऐसे किसी कलाकार को नहीं जानते जिस पर उसकी दुनिया के आसपास का कोई असर न पड़ता हो, और अगर ऐसा कोई होगा, तो वह परम दार्शनिक या परमहंस ज़रूर हो सकता है, परन्तु इस प्रकार के जीव भी जब अपने भान पर आते है, तब उनके मस्तिष्क पर भी आसपास की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, और वे भी 'लोकसंग्रह' के लिए अपने आसपास की जनता की आवश्यकताओं पर बोलने लगते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि हमारे मन के जो विचार हैं, कला भी उन्ही की अनुगामिनी है। कला स्वयं एक बड़ी सुन्दर वस्तु है; पर उसकी तह मे सत्य तो रहना ही चाहिए—जिस चीज को हम जैसा अनुभव करते हैं, उसका आभास तो कला में भी रहता ही है। कलाकार कल्पना के हवाई महल बनाता है, पर वे हवाई महल भी उसकी अपनी दुनिया के ही होते हैं। इसी लिए किसी भी कलाकार की रचना को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह किस जगत् का विचरण करने-वाला कलाकार है—उसकी रुचि उसकी रचना से पहचानी जा सकती है। अस्तु।

यह "मानस-प्रतिमा" भी लेखक की रुचि का निदर्शन कराती है। रचना स्वय लेखक के मन की 'प्रतिमा' है। लेखक कहता है कि वह नही जानता कि कला क्या बला है! और सचमुच कलाकार वही है, जो कला नहीं जानता—कला के बन्धन में अपने को नहीं बांधता।

उसके अपने हृदय के निज उच्छ्वास स्वयं उसकी लेखनी से—उसके अपने निजी ढंग से—धाराप्रवाह निकलते चले आते हैं। जो लेखक अपनी रचना को कला के बन्धन में डालते हैं, उनकी रचना अस्वाभाविक कृत्रिम—अतएव सर्वप्रिय और सुन्दर नहीं होती—सत्य भी उससे बहुत दूर रहता है; और वास्तव में सत्य को सत्याभास के रूप में प्रकट करने मे ही तो कला है। विशुद्ध सत्य कटु होता है; और सत्याभास मनोहर होता है, और जहां बिलकुल सत्य होता ही नहीं—बिलकुल मिथ्याडम्बर ही होता है, वहाँ 'शिव' यानी कल्याण कहां!

हर्ष की बात है कि बाबू दुर्गाप्रसाद झुंझनूवाला ने अपनी "मानस-प्रतिमा" में जो कहानियां रखी हैं उनमें 'सत्य' है. 'शिव' है; और कला की स्वाभाविक सुन्दरता भी है। मानवी स्वभाव के सम-विषम चित्र जो हम को हर घडी समाज में दिखाई देते रहते है, उनका चित्रण जिस खूबी के साथ दुर्गा बाबू ने किया है, उससे जान पड़ता है कि आप एक अच्छे कलाकार है। ये चित्र देहाती भी हैं; और शहर के भी। भाषा का प्रवाह भी आपका स्वाभाविक द्रुतगति से चलता है; और सब से बडी बात यह है कि आपकी रुचि ऐसी ही है कि जिसकी हमारे देश और समाज को इस समय आवश्यकता है। इस समय हमारा देश और समाज संक्रमणावस्था में है—यद्यपि वह उत्थान के मार्ग पर है—ऐसी दशा में क्रान्तदर्शी कवि की रचना जो कार्य कर सकती है, वही अपनी "मानस-प्रतिमा" मे दुर्गा बाबू ने हमारे सामने रखी है। आशा है, हिन्दीसंसार इस कलाकार को पहचानेगा—कद्र करेगा।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

ग्रन्थकार

बा० दुर्गाप्रसाद झुंझनूंवाला बी० ए०

वक्तव्य

एक व्यवसायी का लेखक होने का दावा करना दुराग्रह मात्र है। किन्तु छात्र-जीवन की कुछ स्मृतियाँ शेष थी। व्यवसाय के क्षेत्र मे आने के बाद भी कुछ कुछ लिखने का प्रयत्न किया क्योंकि भावनाओं के उद्वेग को समय समय पर दबाने में असमर्थ रहा। इन दोनो ही जीवनो के प्रयत्नो के इस पत्र-पुष्प को जनता-जनार्दन की भेंट कर रहा हूँ। इन थोडी सी कहानियो मे मैंने जीवन के कुछ विषम चित्रो को खीचने का प्रयत्न किया है। कहानी की कला से मैं अभिज्ञ नही हूँ। फिर भी हृदय के जो थोडे से भाव हैं वे सामने हैं। यह कहना नही होगा कि कहानी और कहानी के पात्र—सभी कल्पित हैं। इनमे कोई कल्पना के सिवा और कुछ ढूढने का प्रयत्न न करे।

विनीत—

दुर्गाप्रसाद झुंझनूंवाला

विषय-सूची

मानस-प्रतिमा

वैभव का अभिशाप

वै

रात के ग्यारह बज चुके थे। घनघोर बादल छाये हुए थे। वर्षा वेग के साथ हो रही थी। चारो ओर अन्धकार का साम्राज्य था। हाथ को हाथ दिखाई नही देता था। देहात का माजरा था, पगडण्डियों का मार्ग। उस पर कीचड और फिसलन ने और भी दुर्गति कर रक्खी थी। रास्ता चलना मुश्किल हो रहा था। फिर भी किसी तरह घर तो पहुँचना ही था। भीगते-भागते, गिरते-पड़ते, किसी प्रकार किशोर जल्दी से जल्दी घर पहुँचना चाहता था।

किशोर एक ग्रामीण युवक था। अवस्था लगभग बाईस वर्ष की होगी। घर का कोई विशेष सम्पन्न नहीं था किन्तु आराम से था। पिता पहले ही मर चुके थे। माता थी—वह भी पुत्रवधू का मुँह देखने के छै महीने बाद ही चल बसी। किशोर एम० ए० की परीक्षा देकर घर आने की तैयारी कर ही रहा था कि उसे माता की बीमारी की खबर मिली

और वह तुरन्त उनकी सेवा मे जा पहुँचा। किन्तु वहाँ उसे केवल माता का अन्तिम स्नेह और आशीर्वाद ही प्राप्त हो सका। अब घर मे केवल स्त्री-पुरुष ही रह गये थ। बाप दादो के घर को सूना छोड कर जाना भी मुश्किल था, और जाना अवश्य भी था। वह एम० ए० मे सर्वप्रथम हुआ था। उसे शहर के गवर्नमेन्ट कालेज मे प्रोफेसर का पद मिल रहा था। फिर बैठे बैठे भी कैसे काम चलता। स्त्री को अकेली छोड नही सकता था। यही सोचकर वह घर बार की व्यवस्था करने मे लगा हुआ था। दशहरे की छुट्टियो के बाद ही वह अपने पद पर चला जायगा। उसके पहले ही वह सब व्यवस्था कर डालना चाहता था।

भ

माधव था जमीदार का लडका—वैभव की गोद मे पला हुआ। लक्ष्मी उसके चरणो पर लोट रही थी। स्वभवतः ही उद्दण्ड प्रकृति का था। किन्तु फिर भी न जाने कैसे किशोर से उसकी मित्रता थी। किशोर जानता था कि वैभव मनुष्य के कोमल भावो का शत्रु है—सम्पन्न व्यक्तियों का स्नेह बहुधा स्थायी नहीं होता—फिर भी वह माधव को प्यार करता था। आज किशोर उसी के पास चला गया था। सोचा था—तीन ही मील का मामला है। घूमना भी हो जायगा और मित्र से भेट भी हो जायगी। किन्तु सात बजते ही आकाश मे बादल होने लगे। थोडी देर बाद ही प्रकृति ने प्रचण्ड रूप पकड लिया। किशोर डर रहा था—पत्नी घर पर अकेली ही है। वह बार बार माधव से घर जाने की अनुमति माँग रहा था, किन्तु माधव कहता—"वाह! इस तूफान

मे कहाँ जाओगे ?" दस बजते बजते प्रकृति ने बहुत ही भीषण रूप धारण कर लिया। अब किशोर से नही रहा गया। जैसे भी हो उसे जाना ही होगा। प्रकृति की इस भीषणता मे अपनी हृदयेश्वरी को वह अकेली नही छोड़ सकता। सम्भव था—उसके इस सकल्प मे कोई ईश्वरीय प्रेरणा थी। नियति शायद उसके लिये कोई दूसरा ही जाल तैयार कर रही थी।

किशोर वहा से चल पडा और थोडी देर बाद ही वर्षा भी शुरू हो गई। वर्षा साधारण नही थी। देहाती मार्ग पर पानी ही पानी हो गया। किशोर कई बार गिरते गिरते बचा। उसके सभी कपडे भीग गये। शरीर जाडे के मारे थर थर कॉप रहा था। फिर भी वह गिरता-पडता जल्दी जल्दी चला जा रहा था। अभी भी गॉव तीन चार फर्लांग की दूरी पर था। सहसा बिजली की चमक मे उसे समीप ही एक मनुष्य-मूर्ति खडी दिखाई दी। किशोर में यथेष्ट साहस था। चोरों से वह नही डरता था। भूतों मे उसका विश्वास ही न था। किन्तु फिर भी प्रकृति की इस भीषणता में ऐसे निर्जन सुनसान स्थान मे अपने समीप ही मनुष्य की एक अस्पष्ट छाया को देखकर उस दिन वह आशका से सहम उठा। कुछ देर तो वह निश्चेष्ट सा खडा रहा। फिर साहस करके उसने कहा—"कौन है ? इस समय ऐसे निर्जन स्थान मे क्यों खडा है ?" और साथ ही साथ उसने अपने हाथ के छोटे से देहाती डडे को सॅभाला। किन्तु उधर से जवाब नदारद। उसने फिर कर्कश स्वर मे कहा—"जल्दी बोलो—तुम कौन हो ? नही तो मैं वार करता हूँ।" वह दो कदम और आगे बढ गया। इस बार एक कम्पित

से क्षीण स्वर में उसे उत्तर मिला—"मैं हूँ एक किस्मत की सताई हुई अभागी बालिका।"

"बालिका!" किशोर का उठा हुआ हाथ अपने आप नीचे हो गया। एक बालिका! और इस भयकर समय मे ऐसे स्थान पर! उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। बोला—"तुम ऐसे समय मे यहाँ क्यो हो? घर क्यो नही जाती? क्या तुम्हारे घर नहीं है?"

उत्तर में फिर उसी वेदना भरे स्वर ने कहा—"घर तो था किन्तु किस्मत ने छीन लिया। आफत की मारी हूँ। किसी आश्रय की तलाश मे हूँ।" किशोर का हृदय सरल था। बालिका के वेदना भरे स्वर ने उसकी सहानुभूति को चचल कर दिया। उसका हृदय उस दुखी बालिका के सकट का साथी होने के लिये व्याकुल हो उठा। अन्धकार मे कुछ दिखाई तो पडता न था किन्तु आवाज के लक्ष्य मे दो कदम और आगे बढकर उसने कहा—"बहन, तुम चाहे कोई भी हो, मेरे साथ चलो। रात भर मेरे घर पर विश्राम करो। सवेरे तुम्हारा हाल सुनकर जैसा होगा वैसा किया जायगा।......देखो, अन्धेरा है। मेरा हाथ पकड़ लो, बहन डरने की कोई बात नहीं है।" बालिका उसके सरल स्वभाव और स्नेहपूर्ण आश्वासन पर मुग्ध हो रही थी। उसे एक सहारा मिल रहा था और वह उस सहारे पर अपना सारा बोझ डाल देना चाहती थी। उसने किशोर का हाथ पकड लिया और उसके साथ चली।

घर पहुँच कर किशोर ने दरवाजा खटखटाया। मालती भीतर से ही बोलती आ रही थी—"इस भयानक रात में कहाँ कहाँ मारे भटक

रहे हो ? घर की भी सुध है या नहीं ?" किन्तु दरवाज़ा खोलते ही दीपक के मन्द प्रकाश मे पति के पीछे एक स्त्री को देखकर वह ठिठक सी रही। किशोर ने उसका सन्देह दूर करने के लिये उस बालिका का हाल कह सुनाया। मालती उसके पास गई और दीपक को बालिका के मुँह के आगे किया। बालिका बदहवास सी हो रही थी। उसकी आँखो से आँसू बह रहे थे। वेदना की अगणित आकुल भावनाये उसके मुख को विकृत किये हुए थी। मालती का स्वभाव बड़ा ही स्नेहशील था। वह आर्द्र हो उठी बालिका की इस दशा पर। वह उसे अपने हृदय में छिपा लेने को व्याकुल हो उठी।

थोड़ी ही देर बाद सूखे कपडे पहन कर वह बालिका मालती की गोद में मुँह छिपाये अपने उत्तप्त आँसुओ से हृदय की कृतज्ञता को प्रकट कर रही थी। किशोर का हृदय निश्छल आनन्द के हिंडोले पर मग्न होकर झूल रहा था।

ब

"तुम कहती हो कि बदमाश तुम्हे जबर्दस्ती उठा लाये और उसके बाद तुम दैवगति से किसी प्रकार उनके पजे से छूट गई। इसमे तुम्हारा तो कोई कसूर नहीं है। फिर तुम अपने पिता के घर जाने में क्यों डरती हो ?"

किशोरी (यह उस बालिका का नाम था) सरलहृदय किशोर के इस प्रश्न को सुनकर व्याकुल हो उठी। वह अब केवल बालिका ही नहीं थी। उसका शैशव यौवन से क्रीड़ा कर रहा था। उसका

सौन्दर्य उसके एक एक अग मे मादकता भर रहा था। प्रत्येक अवयव में एक अज्ञात अभिलाषा की स्फूर्ति फडक रही थी। वह अब दुनिया को कुछ समझती थी। किशोर की सरलता पर उसे वेदना हुई। किशोर ने कालेजो मे शिक्षा प्राप्त की थी। वह पुस्तको का विद्वान्—प्रकाण्ड पण्डित था। किन्तु अभी वह ससार को न जानता था। किशोरी उससे कैसे कहे कि अब पिता के घर मे उसके लिये स्थान नही है। इसकी कल्पना ही किशोर के कोमल हृदय के लिये कष्ट-प्रद हो सकती है। वह चुप रही।

किन्तु किशोर ने फिर भी कहा—"चलो, मैं तुम्हे तुम्हारे पिता के यहाँ पहुँचा आऊँ। वे तुम्हारे लिये व्याकुल हो रहे होगे।"

अब कहे बिना भी काम नही चल सकता था। किशोरी ने कहा—"भैया, तुम्हारा हृदय सरल है। तुम अभी ससार को नहीं जानते। मेरे लिये अब उस घर मे स्थान नही है। मै इतने दिनो तक घर से बाहर न मालूम कहाँ कहाँ, कैसे कैसे आदमियो के साथ, किस प्रकार रही। क्या यह सन्देह का पर्याप्त कारण नही है? क्या इतने पर भी समाज मुझे अगीकार कर लेगा? भाई, हमारे समाज की व्यवस्था ही ऐसी है। इस समय मैं इस विशाल विश्व में निराश्रय और निराधार हूँ। सब कुछ होते हुए भी अनाथा। किस्मत ने मुझ से आज मेरा सब कुछ छीन लिया।" इतना कहते कहते किशोरी रो पडी।

किशोरी की बातों मे वास्तविकता का एक ऐसा नग्न चित्र था जिसका भीषण रूप देखते ही किशोर काँप उठा। उसका सारा उत्साह ठढा पड गया। वह निराश होकर कुर्सी पर गिर पड़ा। वास्तव मे यह

सत्य था कि किशोरी के लिये अब उस समाज में स्थान नहीं था। फिर उसके प्रति अब किशोर का क्या कर्त्तव्य है ? क्या वह उसे इस विश्व मे यो ही निराश्रय छोड दे ? क्या वह अपनी आँखो के आगे ही अपनी एक बहन को दर दर की ठोकरे खाते हुए देखे ? और अन्त मे इसका परिणाम क्या होगा—सोचकर किशोर की आत्मा कॉप उठी। नहीं, उससे ऐसा पाप न हो सकेगा। वह अपनी बहन को अपनी गोद मे छिपाकर रक्खेगा। ससार की प्रतारणाये उस पर पड़े, विपत्तियों के पहाड उस पर टूट पडे, फिर भी वह अपने स्नेहपूर्ण आश्रय से अपनी बहन को कभी अलग नही करेगा। इस निश्चय के साथ ही उसके मुख पर कर्त्तव्य की ज्योति सी जग उठी। एक अपूर्व तेज से उसका मुख दैदीप्यमान हो गया। उसने स्नेह कम्पित स्वर मे कहा—"बहन, मेरे रहते तुम निराश्रिता कैसे हो सकती हो ? मैं जब तक जीवित हू, तुम्हे अपनी गोद से अलग नही कर सकता। मुझे समाज की और ससार की परवाह नही है। हमारा ससार अलग होगा जहॉ स्नेह की शीतल धारा हमारे सन्तप्त हृदय को निरन्तर शान्ति प्रदान करेगी।"

मालती अभी तक एक विचित्र ही अवस्था में खड़ी थी। एक ही रात के सहवास से उसे किशोरी पर अत्यन्त स्नेह हो गया था। वह डर रही थी—कहीं किशोर उसे आश्रय देना अस्वीकार कर दे ! किन्तु किशोरी की यह बात सुनते ही उसने स्नेह-विह्वल होकर किशोरी को गले से लगा लिया। आह ! इस स्वर्गीय आनन्द मे कितना सुख था। किशोर मस्त हो उठा। इस सुख के आगे उसे ससार की क्या परवाह थी।

इसी समय माधव वहाँ आ पहुँचा। उसने कहा—"मुझे दुख है, किशोर, रात तुम्हे बहुत कष्ट हुआ होगा।...अरे, यह कौन है? यह तो एक नई ही सूरत देखने मे आ रही है। कहाँ से पकड़ लाये इसे?"

किशोर माधव की उच्छृङ्खलता पर दुखी हो रहा था। माधव एक सम्पन्न युवक था। ऐश्वर्य की गोद मे पला था। दुःख को वह जानता ही न था। फिर वह दूसरे के दुःख का अनुभव कैसे कर सकता। फिर भी किशोर ने बालिका का सारा हाल उसे कह सुनाया। किशोरी ने एक बार माधव की ओर देखकर आँखे नीची कर लीं। लज्जा की आरक्त लालिमा उसके मुख पर खेल रही थी। माधव मुग्ध भाव से उस अर्द्ध विकसित सौन्दर्य को देख रहा था। सहसा उसने किशोर के कान के पास मुँह ले जाकर कहा—"चीज तो अच्छी है, यार।" किशोर ने कठोर दृष्टि से माधव की ओर देखा। उस दृष्टि से माधव एक बार सहम उठा। फिर उसने उस समय किशोर से कुछ नही कहा। किशोरी मालती के साथ वहाँ से चली गई।

दो तीन दिन बाद माधव फिर किशोर के घर आया। इधर उधर की बातें करने के बाद कहने लगा—"भाई किशोर, एक बात कहूँ। नाराज न होना। तुम इस बालिका को मुझे दे दो। घर का काम भी करेगी और पड़ी रहेगी। अनाथ तो है ही—उसे एक सहारा मिल जायगा।" किशोर ने माधव की ओर देखा। उसने माधव के मुँह पर एक ऐसा भाव देखा जो उसने आज के पहले कभी न देखा था। माधव के मुख पर लालसा का विकार था। मोह की ज्वाला में उसकी चेतनता भस्म हो रही थी। उस पर एक नशा सा सवार था। किशोर

उसके इस रूप को देखकर किञ्चित् सहम उठा। जीवन में पहली बार उसके सामने ऐश्वर्य के उन्माद में मत्त धनी युवकों के पापमय जीवन का चित्र आया। किन्तु उसका कर्त्तव्य निश्चित था। वह जानता था— उसकी परीक्षा का समय आ गया है। वह यह भी समझ गया कि जिसे वह अब तक अपना मित्र समझता था वही अब उसका सर्वनाश करने को तैयार हो जायगा। माधव के पास धन था, ऐश्वर्य था, आदमी थे, साधन थे। किन्तु किशोर—उसके पास तो अपने धर्म के सिवा और कुछ भी न था। फिर भी किशोर अपने कर्त्तव्य पर दृढ था। उसने दृढ स्वर मे कहा—"माधव, वह मेरी बहन है।"

"मैं जानता हूँ, किशोर। लेकिन सारे धर्म के ठेकेदार तुम्ही तो नहीं हो जाओगे। किशोरी तुम्हारी बहन है—यह जानते हुए भी मैं तुमसे कहता हूँ कि उसे मुझे दे दो।"

किशोर माधव की इस उद्दण्डता पर तिलमिला उठा। उसने कठोर स्वर मे कहा—"यह नहीं हो सकता, माधव।"

"मैं तो उसे ले जाने को तैयार हो कर आया था, किशोर।"

किशोर ने अपने स्वाभाविक स्वर मे उत्तर दिया—"माधव, मैं उस दिन तुम्हारा हृदय से स्वागत करूँगा जिस दिन तुम किशोरी को विवाह कर ले जाने को आओगे। यों किशोरी तुम्हारे यहाँ नहीं जा सकती। अभी उसका भाई किशोर उसकी रक्षा करने मे समर्थ है। उसका नारीत्व आदर की वस्तु है, माधव, क्रीड़ा की नहीं!"

"तुम जानते हो, किशोर, मैं जमीदार का लड़का हूँ। एक ऐसी वैसी बालिका से मैं विवाह तो नही कर सकता।"

"तो माधव, मेरे जीते जी यह भी नही हो सकता कि किशोरी तुम्हारी लालसा का शिकार हो जाय ।"

अब की माधव ने भी अपना असली रूप प्रकट किया। उसने कहा—"किशोर, मुझे दुःख है कि आज मुझे तुम्हे अपना वह रूप दिखाना पड़ रहा है जिसकी तुम शायद आशा नही करते थे। मै तुमसे कहता हूँ—तुम्हे किशोरी को मुझे देना ही पडेगा। तुम 'ना' नही कर सकते।। क्या तुम इतना भी नही सोच सकते कि तुम्हारी इस 'ना' का कितना भीषण परिणाम हो सकता है? क्या नाहक मुझे अपना दुश्मन बना रहे हो?"

किशोर समझता था कि उसके सामने यह समस्या आवेगी और वह इसके लिये पहले ही से तैयार था। उसने तडप कर कहा—"मै जानता हूँ, माधव, तुम सम्पन्न हो। तुम्हारे पास धन है, हर प्रकार के साधन हैं। तुम इस धन के बल पर मुझे नष्ट कर सकते हो, मेरा हृदय कुचल सकते हो। किन्तु याद रहे मुझे बरबाद कर के भी तुम मेरी आत्मा पर विजय नही पा सकते। आत्मा पर स्नेह ही शासन कर सकता है, पशुबल नही। जाओ, तुम्हारी शक्ति मे जो हो, करो। मैं सभी आपदाओ का सामना करने को तैयार हूँ। किन्तु अपने जीते जी मैं किशोरी को अपनी स्नेह-छाया से अलग नही कर सकता।"

इसी समय मालती ने आकर कहा—"माधव जी, तुम्हारे पास धन है, हम निर्धन हैं। इसका यह मतलब नहीं कि धनी लोग निर्धन की इज्जत पर नजर डाले। तुम अपने धन-मद को लेकर यहाँ से चले

जाओ। हम अपने कर्त्तव्य पर दृढ हैं। हमे विश्वास है कि परमपिता हम निर्धनों की लाज का रक्षक है।"

माधव ने दाँत पीसते हुए कहा—"मैं तो जाता हूँ, किशोर, किन्तु परिणाम के लिये तैयार रहना।"

"हम हमेशा विपत्तियों के स्वागत को प्रस्तुत हैं।"

माधव क्रोध में भरा हुआ चला गया। उसी समय किशोरी दौडती हुई आई और बोली—"भैया, मुझे जाने दो। मुझ अभागिनी के लिये अपने सुखमय ससार को बरबाद न कर दो।"

किशोर ने स्नेहपूर्वक कहा—"यह तू क्या कर रही है, किशोरी! क्या तू मेरी बहन नही है?"

का

दूसरे दिन गाँव मे सब के मुँह पर एक ही बात थी। जहाँ देखो वहाँ एक ही बात की आलोचना थी—किशोर ने न जाने कहाँ की एक लडकी को उड़ा कर अपने यहाँ रख लिया है। कितना बड़ा अन्याय है! क्या शिक्षित होने का यही मतलब है? किशोर को तो हम ऐसा नहीं समझते थे। छिः छिः, किशोर इतना गिर गया। इत्यादि। जो किशोर गाँव मे आदर का पात्र था उसी की ओर आज लोग उँगली उठा रहे थे। किशोर का घर से बाहर निकलना मुश्किल हो गया। चारो ओर से उस पर धिक्कार और घृणा की बौछार थी। माधव का चक्र सफल हुआ।

किशोर का हृदय बड़ा ही व्यथित हो उठा। उसका अब गाँव में रहना कठिन था। लाचार, उसने समय से पहले ही शहर जाने की तैयारी की और एक दिन सन्ध्या समय वह मालती और किशोरी को ले कर चल पडा। विचार था कि रात की ट्रेन पकड़ कर लखनऊ चला जायगा। किन्तु वह थोडी ही दूर गया होगा कि गाँव मे बडी जोर का धुआँ उठता दिखाई दिया। उसने सोचा—कही आग लग गई होगी। जब वह गाँव छोड कर जा ही रहा है तो उसे औरों के सुख दुख से क्या मतलब। वह फिर चल पडा। लेकिन वह ज्यादा दूर नही जा पाया होगा कि किसी ने उसे दौड कर खबर दी कि आग उसी के घर मे लगी है। वह लौटा—देखा, हजारो तमाशबीन इकट्ठे थे लेकिन आग बुझाने की चेष्टा दो चार को छोड कर और कोई नहीं कर रहा था। किशोर को आया देख कर किसी ने आवाज कसी—देख, पाप का फल क्या हाथो हाथ मिला है! यही कहा है, भाई, कि हम अपने भाइयो की आँखों में धूल झोंक सकते हैं लेकिन परमात्मा की आँखो मे धूल नहीं झोंक सकते। किशोर ने यह सुना तो उसका हृदय फट सा गया। क्या अच्छे कामों का यही फल है? बाप दादों की एक निशानी थी वह भी जल कर खाक हो गई। लेकिन दूसरे ही क्षण उसे ख्याल हुआ कि उसका विरोधी तो एक व्यक्ति है। व्यक्ति की शक्ति ही कितनी है जब कि सर्वशक्तिमान के हाथों की छाया उसके सिर पर है। उसने उस जलते हुए अपने शैशव के क्रीडा-स्थल और कैशोरावस्था की रंगभूमि की ओर एक हसरतभरी नजर डाली और चल पडा। किशोरी ने सब हाल सुना और उसके सामने

आकर बोली—"भैया, अब भी मुझे जाने दो। मेरे कारण अपनी बरबादी न कराओ।" किशोर चचल हो उठा। उसके मुँह से केवल यही निकला—"किशोरी!" किन्तु उसके स्वर मे इतनी करुणा थी कि किशोरी विह्वल हो उठी। उसने वेदनामिश्रित स्वर मे "भैया" कहा और रोती हुई किशोर के पैरों पर गिर पड़ी। किशोर ने उठा कर उसे गले से लगा लिया और कहा—"बहन, विचलित न हो। यह तो हमारी परीक्षा है!"

और वह धीरे धीरे स्टेशन की ओर चल पड़ा।

अ

माधव को चैन नहीं था। उसकी उद्दण्डता अपनी सीमा को उल्लघन कर रही थी। अग्नि जब तक राख मे दबी रहती है तभी तक उसका रूप भयावह नही प्रतीत होता। किन्तु ईंधन पाते ही वह अपना असली विध्वस रूप दिखलाती है। उसी प्रकार हृदय की छिपी हुई वास्तविक मनोवृत्ति अवसर की ठेस पा कर ही अपना खेल दिखाती है। अभी तक लोगों ने माधव का केवल मनमसी का रूप ही देखा था। उसे कोई अवसर ही ऐसा न मिला था कि वह अपनी उद्दण्डता को चरितार्थ कर सके। किन्तु किशोर वाला मामला आते ही उसकी शैतानवृत्ति प्रबल हो उठी। साथ ही साथ उसकी विलास-लालसा ने भी उसके हृदय को जलाना शुरू किया। अपना मनोरथ सिद्ध न होता देख कर वह किशोर का सर्वनाश करने को तैयार हो गया। उसने किशोर को उसके गाँव मे बदनाम किया। उसके घर को जलवा दिया। और

जब किशोर गाव छोड़ कर शहर को चला गया तब भी माधव के दिल को राहत न मिली। वह भी किशोर के पीछे पीछे शहर को चला—किशोर को हर तरह से बरबाद करने के लिये। उसका विचार था किशोर को उसके कालेज मे बदनाम करके उसकी जीविका के मार्ग को भी बन्द कर देने का। किन्तु अभी दशहरे की छुट्टी थी। अभी भी कालेज खुलने में पन्द्रह दिनों की देर थी। तब तक माधव को चुपचाप बैठना ही पडा।

लालसा को एक आधार की आवश्यकता होती है। आधार मिलने पर वह एक बार अपने को उसी पर केन्द्रीभूत कर देती है। किन्तु जब तक उसे वह आधार नही मिलता तब तक वह उसकी खोज मे इधर उधर भटका करती है। माधव की लालसा का आधार किशोरी थी। किशोरी जब उसे न मिली तब उसकी बढती हुई अतृप्त लालसा किसी दूसरे आधार की तलाश करने लगी। शहर का वातावरण था। पैसे की कमी न थी। एक दिन वह शहर की प्रसिद्ध नर्तकी के यहाँ जा पहुँचा। नीला ने उसे देखा तो वह चौंक पडी। 'यह चेहरा तो पहचाना हुआ सा जान पड़ता है। तो क्या यह माधव है ? क्या वह इतना गिर गया है ?' किन्तु उसने अपने को सँभाला। अभी उसके लिये नर्तकी का बाना ही अच्छा था।

माधव ने नीला का नृत्य देखा। उसकी एक-एक कलामय भाव-भंगी पर वह मुग्ध हो गया। नागरिक नीला के आगे सरल ग्रामीण बालिका किशोरी उसे तुच्छ जान पडने लगी।

वह प्रतिदिन नीला के यहाँ पहुँचने लगा। नीला उसे देखती तो उसके हृदय से एक दर्दभरी आह निकल जाती। उसके हृदय मे क्या था इसे कौन कह सकता है। किन्तु वह अपने को जब्त करती हुई अवसर की प्रतीक्षा में थी।

भि

छुट्टी के दिन इसी प्रकार बीत गये। कालेज खुलते ही किशोर ने अपना पद ग्रहण कर लिया। दो ही दिन मे उसकी प्रतिभा का सितारा चमक उठा। नवयुवक प्राफेसर किशोर के ज्ञान और विवेचना-शक्ति पर सभी मुग्ध थे। किन्तु किस्मत कुछ और ही खेल तैयार कर रही थी।

एक हफ्ते बाद किशोर ने देखा—कालेज के वातावरण मे कुछ सनसनी सी है। वह डरा—कहीं माधव यहाँ भी तो नहीं पहुँच गया। बात कुछ ऐसी ही मालूम होती थी। छात्र उसकी ओर देखकर मुस्कराते हुए मुँह फेर लेते थे। प्रोफेसर लोग उससे कुछ झेंपते हुए से बात करते थे। उसकी ओर देख देख कर लोग फुसफुसाते हुए कुछ बातें करने लग जाते थे। किशोर समझ गया कि बारूद मे पलीता लग चुका है। यह विस्फोट का प्रथम रूप है।

और उसने अपने को परिस्थिति के लिये पूर्णतः तैयार कर लिया।

दो चार दिन के बाद ही कालेज के प्रिंसिपल मिस्टर जानसन ने उसे अपने घर पर बुलाया। शायद यह किशोर की तक़दीर के फ़ैसले का अन्तिम दिन था। किशोर भी एक शहीद की सी वीरता के साथ प्रिंसिपल के पास पहुँचा। इधर उधर की बातो के बाद प्रिंसिपल ने

कहा—"मिस्टर किशोर, यह मैं क्या सुन रहा हूँ ? क्या यह सच है कि तुम्हारे यहाँ कोई अजनबी लड़की रहती है ?"

"हाँ, महाशय, यह बिल्कुल सच है"—किशोर ने ठडे दिल से कहा।

"तो यह कौन है, किशोर ?"

"यह मैं नहीं कह सकता"—किशोर ने नीची निगाह किये हुए उत्तर दिया।

"फिर भी तुम उसे अपने यहाँ रक्खे हुए हो ?"

"महाशय, वह बालिका निराश्रिता है। उस अनाथा को मैंने अपनी बहन बनाकर अपने घर पर आश्रय दिया है। मैं जानता हूँ कि अच्छे कामों मे बाधाये आया ही करती हैं, किन्तु मैं उनसे लडने को तैयार हूँ।

"मैं तुम्हारी निर्भीकता पर प्रसन्न हूँ, किशोर। मैं यह नही कहता कि तुमने कोई बुरा काम किया है। किन्तु किशोर, हमारा कालेज एक सार्वजनिक सस्था है उसमें कच्ची उम्र के लडके और लडकियाँ पढती हैं। सभी तो तुम्हारे उद्देश्य की खूबी को नहीं समझ सकते, किशोर। फिर तुम्हीं सोचो कि ऐसी बातो का उनके नाजुक खयालों पर कैसा असर पड़ सकता है। इसके लिये कौन जिम्मेदार होगा, युवक ?"

"महाशय, मुझे दुःख है कि मेरे कारण कालेज के वातावरण मे इतनी अशान्ति पैदा हो गई। किन्तु मैं लाचार हूँ, मैं इसके सिवा और कुछ नहीं कर सकता।"

"किशोर, अभी तुम युवक हो। ससार से अनभिज्ञ हो। जरा सोचो, दो दिन पहले ही कालेज मे तुम्हारा कितना सम्मान था। तुम्हारी प्रतिभा की सभी पर धाक थी। सभी तुम्हारा आदर करते थे। और आज—आज तुम्हारा ही नाम सब की जबान पर है। सभी तुम्हे देख कर हँसते हैं। यह कितनी लज्जा की बात है, किशोर! क्या तुम अपनी जाती हुई प्रतिष्ठा को फिर से सँभालना नहीं चाहोगे? मैं तुम्हे पन्द्रह दिन का समय देता हूँ। इस बीच में तुम सब ठीक कर लो। मै तुम्हारे जैसे होनहार युवक के भविष्य को इतना जल्दी अन्धकारमय होता हुआ नहीं देख सकता।"

"आपकी सहृदयता के लिये में आपका कृतज्ञ हूँ, महाशय। किंतु पन्द्रह दिन बाद भी शायद मेरा यही जवाब होगा, जो आज है।"

"एक बार फिर सोच लो, किशोर।"

किशोर वहाँ से चला आया। किन्तु वातावरण शान्त नहीं हुआ। पन्द्रह दिन बाद किशोर को प्रिंसिपल का आदेश मिला कि वह कालेज से इस्तीफा दे दे।

इधर माधव का कुछ और ही हाल था। बन्धन टूटे हुए पशु के समान वह स्वच्छन्दतापूर्वक अपने इच्छित मार्ग पर चला जा रहा था। नर्तकी नीला के यहाँ महफिले जमती थीं। बातो ही बातो में नीला को सब मालूम हो गया। उसे यह जानकर अत्यन्त दुःख हुआ कि अपनी लालसा के पीछे माधव ने एक युवक के—अपने मित्र के—जीवन को तबाह कर डाला—उसके उज्ज्वल भविष्य को उजाड दिया। आह! माधव का इतना पतन! नीला की उदासीनता और

उपेक्षा से माधव की वासना अधिक तीव्र हो गई। उसकी हिंसावृत्ति प्रबल हो रही थी। उसने नीला का नाम निशान भी मिटा देने का निश्चय कर लिया।

९

किशोर अब बेकार था। बेकारी मे इधर उधर मारे मारे फिरने के सिवा और रह ही क्या जाता है। गॉव मे उसके लिये क्या था? घर खाक हो ही चुका था। प्रतिष्ठा धूल मे मिल ही गई थी। इसलिये वह शहर ही मे पड़ा रहा। शायद अब भी परमात्मा उसकी सुन ले। मालती और किशोरी दोनो ही इस जीवन से अधीर सी हो गई थी। एक किशोर ही दृढतापूर्वक अपने व्रत पर अटल था।

एक दिन घूमते घूमते किशोर शहर के बाहर एक निर्जन हिस्से मे चला गया। वहॉ उसने देखा—एक युवती धीरे धीरे अन्यमनस्क हो टहल रही है। शायद वह भी उसी की तरह कोई उद्विग्नमना होगी, नहीं तो ऐसे स्थान मे जल्दी कोई नहीं आता। सहसा किशोर ने देखा कि उस युवती के आसपास ही एक कालाकलूटा सा बदसूरत आदमी अपने को छिपाने की कोशिश कर रहा है। किशोर का मन सशक हो उठा। क्या यह कोई बदमाश है? किशोर ने कुछ सोच कर अपने को एक झाडी के पीछे छिपा लिया।

थोडी देर बाद उसने देखा कि वह आदमी पीछे से उस युवती की ओर बढ रहा है। उसके हाथ मे कोई चमकती सी चीज है। अब छिपने का मौका नहीं था। किशोर ने अपना डडा सँभाला और झाड़ी

के बाहर कूद कर उसने कहा—"खबरदार, बदमाश, ठहर जा।" युवती ने चौककर पीछे की ओर देखा तो उसके होश उड़ गये। उसने देखा—थोड़ी ही दूर पर हाथ में छुरा लिये हुए एक बदमाश खड़ा है। किन्तु झाडी मे से एक सौम्य स्वरूप युवक की ललकार सुनकर युवती को साहस हो आया। किशोर ने उसके पास जा कर कहा—"देवी, आप डरे नही। मेरे रहते यह आपका कुछ नही बिगाड़ सकता।"

बदमाश ने एक विद्रूप हँसी हँसते हुए कहा—"छोकरे, क्यों व्यर्थ मे मेरे बीच आकर अपनी जान को खतरे में डाल रहा है? चला जा यहाँ से, नहीं तो इसी के साथ तुझे भी खत्म कर दूँगा।"

किशोर जरा भी विचलित न हुआ। उसने कहा—"मरने का इससे अच्छा मौका और कौन होगा, भाई! किन्तु मेरे जीते जी तू इस पर हाथ नही उठा सकता।"

"अच्छा, तो यही सही। ले, तू भी मर"—यह कहते हुए उसने अपना छुरा उठाया। किशोर ने उछल कर एक डडा उसकी छुरे वाली कलाई पर मारा। छुरा उसके हाथ से छूट कर अलग जा गिरा। किशोर ने लपक कर उसे उठा लिया। अब उस बदमाश को अपना खतरा मालूम हो गया। और वह वहाँ से चलता बना।

युवती इतनी देर तक विस्मय-विमुग्ध भाव से युवक किशोर की ओर देख रही थी। अब उसे होश हुआ। उसने समीप जा कर कहा—"मै किस मुँह से आप को धन्यवाद दूँ, महाशय! आज यदि

आप न होते तो शायद अभी तक यहाँ कुछ और ही दृश्य होता। क्या मैं जान सकती हू कि मेरा रक्षक कौन है ?"

"खुशी से, देवी जी। मुझे लोग किशोर कहते हैं।"

"किशोर ? क्या प्रोफेसर किशोर ?"

"देखता हूँ कि आप मेरे विषय मे जानती हैं।"

"हाँ, मैंने सुना था कि · ··लेकिन वह कुछ नही। दुनिया मे बहुत तरह के बहुत से लोग हैं।"

"चलिये, देवी जी। मै आपको आपके घर पहुँचा आऊँ।"

रास्ते मे कोई बातचीत न हुई। ठिकाने पर पहुँच कर किशोर ने देखा कि युवती का घर एक अजीब ढग से सजा हुआ है। उसने चलते चलते पूछा। "क्या मैं आप का परिचय प्राप्त कर सकता हूँ, देवी जी ?"

"मेरा नाम नीला है।"

"नीला, प्रख्यात नर्तकी।"

"हाँ, वही।"

कुछ असमजस मे पड़ कर किशोर ने कहा—"अच्छा, अब मुझे जाना चाहिये। आज्ञा हो।"

"ठहरो, प्रोफेसर। आज तुम मेरे मेहमान हो।"

"नहीं, श्रीमती। मुझे जाने दीजिये।"

"ठहरो, प्रोफ़ेसर। शायद एक नर्तकी के घर ठहरना तुम अपनी शान के खिलाफ समझते होगे। लेकिन तुम्हे ठहरना ही होगा। शायद आज का दिन मेरे और तुम्हारे इस वर्तमान जीवन का अन्तिम दिन

है। क्या अन्तिम यवनिका को गिरते हुए देखने में मेरा साथ न दोगे, किशोर !"

नीला के स्वर में एक करुणापूर्ण आग्रह था जिसकी उपेक्षा किशोर न कर सका। किन्तु उसे आश्चर्य था कि यह सब क्या हो रहा है। वह कुछ समझ नहीं रहा था। फिर भी वह पास ही के एक कमरे मे बैठ गया—खोया हुआ सा। नीला अपने कमरे में उदास बैठी हुई थी। रह रह कर उसकी आँखों से एक बूद आँसू ढुलक पड़ता।

५

थोडी ही देर बाद माधव वहाँ आया। इस समय वह उन्मत्त सा हो रहा था। किशोर चकित था—माधव यहाँ और इस रूप में ! बात क्या है ? आज सभी बाते अजीब दिखाई दे रही हैं। वह ठिठक कर देखने लगा कि आगे क्या होता है।

माधव अपने उसी उन्माद मे नीला की ओर बढा। नीला खडी हो गई। माधव ने एक कठोर हँसी हँसते हुए कहा—"नीला, मुझे मालूम हो चुका है कि तू बदमाश के हाथ से बच गई। लेकिन मेरे हाथो से तू नही बच सकती। देखूँ, अब तुझे कौन बचाता है।

"माधव !" नीला ने अपने स्वाभाविक स्वर मे कहा।

माधव पागलो की भाँति नीला की ओर बढा। अब नीला का रुख कडा पड गया उसने कडक कर कहा—"माधव, ठहर जा।" उस झिडकने के पीछे न जाने कौन सी शक्ति थी कि माधव के पैर रुक गये।

नीला ने फिर कडे स्वर मे कहा—"माधव, इधर देख। क्या तू मुझे जानता है ?"

"हाँ।"

"मै कौन हूँ ?"

"एक नर्तकी। बाजार की एक वेश्या।"

नीला तड़प उठी। उसने और भी कडे स्वर मे कहा—"माधव, मैं फिर तुझसे पूछती हूँ, क्या तू मुझे पहचानता है ?"

किशोर हैरत में था—यह मामला क्या है। वह चकित हो कर देख रहा था।

नीला ने फिर कहा—"माधव, क्या तू सचमुच मुझे पहचानता है ? क्या तुझे याद है तेरे एक बहन थी ?"

माधव का नशा हिरन हो रहा था। सहसा बिजली के समान उसकी आँखो के आगे बचपन का एक चित्र खिंच गया। उस समय वह महज बच्चा था। माता-पिता जीवित थे। उसके एक बहन थी—नाम लीला। वह विधवा थी। विधवा-जीवन के कष्टों का वह अपने लडकपन के कोमल भावों द्वारा अनुभव करता था। लीला घर का सभी काम करती थी। एक मजदूरनी से भी बुरी दशा उसकी थी। फिर भी उससे कोई खुश न था। सभी उससे जलते थे। उसके जीवन मे शान्ति नहीं थी। माधव उस समय अल्हड़ बालक ही था। कुछ समझता नहीं था। उसे थोड़ा थोडा याद आ रहा था कि एक दिन न जाने कैसा लाछन लगा कर लीला की बड़ी फजीहत हुई थी। आह! उस समय लीला की कितनी बुरी दशा थी! वह कितना रो रही थी! उस

समय की दशा याद आते ही माधव की आँखे भर आई। उसकी कोमल भावनाये फिर से जाग्रत होने लगी। उस घटना के बाद फिर किसी को लीला का पता न लग सका। फिर आज आठ नव वर्ष के बाद इस प्रकार उन दिनों की याद क्यों दिलाई जा रही है! किशोर भी चकित हो कर यह दृश्य देख रहा था।

नीला ने फिर पूछा—"माधव, याद है तेरे एक बहन थी?"

माधव ने कम्पित स्वर मे उत्तर दिया—"हाँ, थी तो। लेकिन तुम्हे इससे क्या?"

इस बार नीला का स्वर भारी था। उसने कहा—"इधर देख, मेरे अभागे भाई! पहचान—मैं कौन हूँ!"

माधव विक्षिप्त सा हो रहा था। उसे अपनी आँखों के आगे से एक परदा सा सरकता मालूम हुआ। उसने काँपते हुए कहा—"तुम, तुम लीला·· · · ·लीला, तुम इस रूप मे! · तुम · " माधव सज्ञाहीन सा हो रहा था। किशोर ने दोडकर उसे गिरने से बचाया।

किशोर ने कोमल स्वर मे पूछा—"यह सब क्या है, नीला?"

"अब मैं नीला नही हूँ, प्रोफेसर! अब मै लीला हूँ। और तुम्हे मालूम होना चाहिये, प्रोफेसर, कि नीला बनकर भी मैने आज तक अपने को बेदाग रक्खा है। नीला केवल नर्तकी थी, वेश्या नही।"

इसी समय माधव होश मे आया। उसने देखा, वह किशोर की गोद मे था और लीला उसके सामने खडी थी। वह किशोर को यहाँ देखकर चकित था। उसने पूछा—'तुम यहाँ कैसे, किशोर!"

"इसका उत्तर मैं तुम्हे दूँगी, माधव !" लीला ने कठोर स्वर मे कहा। "तुम नही जानते, माधव, कि वैभव के नशे मे तुमने क्या क्या जुल्म किये। तुमने अपने मित्र की आश्रित बहन पर बुरी दृष्टि डाली। तुमने अपनी इच्छा के वशीभूत होकर अपने मित्र का जीवन बरबाद किया। इसके बाद तुमने मुझपर—अपनी बहन पर नजर डाली। मैंने तुम्हे पहचाना किन्तु तुम मुझे न पहचान सके। तुमने मेरी जान लेने की चेष्टा की। तुम पूछते हो—किशोर यहाँ कैसे। आह ! आज यदि किशोर यहाँ न होता तो यह अवसर ही न आता। लीला तुम्हे जीवित दिखाई न देती और, मेरे अभागे भाई, तेरी न जाने क्या दशा होती !······किशोर ग़रीब है, किन्तु उसकी आत्मा महान् है। तुम धनी हो, किन्तु तुमने शैतानों का दिल पाया है।·····उन्माद—यह वैभव का शाप है। उच्छृङ्खलता—यह धन का पागलपन है। माधव, तुम पर धन का नशा था। उस नशे मे तुम पागल हो रहे थे। धन के मद में मस्त तुम्हारे जैसे लोग अक्सर यह नही देखते कि उस पागलपन में वे क्या करने जा रहे हैं। किन्तु उनके इस पागलपन का शिकार होता है या तो हम जैसी अभागिनियों का नारीत्व अथवा किसी ग़रीब का कुचला हुआ दिल ! आज इसी वैभव के उन्माद का फल है कि किशोर जैसा महान् पुरुष तबाह है। और आज इसी धन की उद्दण्डता का यह परिणाम है कि मैं नर्तकी हूँ !"

"लेकिन, बहन, बहन······ 'तुम ·· · "

"हाँ, माधव। मैं आज नर्तकी हूँ। समाज से अकारण ठुकराये जाने के बाद, जानते हो, अबलाओं के लिये कौन सा मार्ग रह जाता

है ? या तो गगा की गोद अथवा रूप का बाजार ! माधव, मैं मर न सकी। किन्तु रूप के बाजार में बैठकर यौवन का व्यापार करना मुझसे न हो सका। मैंने नृत्य-कला सीखी और आज उसी का यह प्रसाद है कि मैं इतने दिनो तक इस गन्दी जगह मे रहकर भी बेदाग़ हूँ। माधव, यदि तुम्हें कुछ भी अपने किये का पश्चात्ताप हो, यदि तुममे कुछ भी साहस हो, तो अपनी खोई बहन को फिर से "बहन" कह कर अपने घर में स्थान दो। मुझे इस दलदल से निकाल कर अपने पापों का प्रायश्चित्त करो।"

माधव का हृदय विदीर्ण हो रहा था। उसने रोते रोते कहा—"बहन, बहन, मेरे अपराधों को क्षमा करो। किशोर, मेरे भाई·· ··"

"माधव, तुम थोड़ी देर विश्राम करो !" किशोर ने स्नेह भरे कोमल शब्दों मे कहा।

भूल

१

उसे सगीत से प्रेम था। बचपन से ही वह सगीत के द्वारा अपने हृदय को शक्ति और साहस देता आ रहा था—शक्ति और साहस इस-लिये कि वह ससार मे अकेला था—सगीत ही उसका एकमात्र साथी था। वह सगीत की कलात्मक कठिनाइयो से परिचित नही था किन्तु उसके स्वर मे एक ऐसी माधुरी थी जिसका साथ देने के लिये ताल, लय और राग-रागिणियाँ स्वयं लालायित रहती थी। न जाने कहाँ से वह उस दिन गाँव मे आ पहुँचा। छोटा सा पहाडी गाँव था वह। निस्तब्ध प्रकृति उसके सगीत के स्वर से मुखरित हो उठी। गिरि-सरिता का कल-कल प्रवाह उसके स्वर के साथ ताल देने लगा। अनाथ, अनाश्रित बालक की करुणामयी ध्वनि से समवेदना प्रकट करती हुई मानो सान्ध्य-प्रकृति स्वय भी रो पड़ी। छोटे से गाँव के थोडे से आदमी उसकी पुकार से खिचे हुए वहाँ पहुँच गये जहाँ वह एक पेड के नीचे

बैठा हुआ अपनी करुणा भरी रागिणी से विस्तीर्ण विश्व की अनुकम्पा को अपनी ओर खींचने की चेष्टा कर रहा था। नर-नारियो मे उस नवागत बालक के विषय में सहानुभूतिपूर्ण समालोचना होने लगी। बच्चों को एक नया खिलौना मिल गया।

कुमार को लोगो ने यही रख लिया। वह सब के मनोरजन का विषय था। बुड्ढे उसके भावमय गीतो को सुनकर तन्मय हो जाते। भावुक नवयुवक उसकी तानो मे एक मोहकता का अनुभव करते। बच्चे कुमार दादा के साथ आँख-मिचौनी खेलकर जितना खुश होते उतना शायद ही और कोई होता। निराधार बालक अपने बन्धु सगीत के साथ विपत्ति की गोद मे पलने लगा।

वह गाँव मछुवाहो की एक छोटी सी बस्ती था। पास ही समुद्र से जाकर वे मछली मारकर लाते थे। शहर से एक आदमी आता और गाड़ी की गाडी मछली उनसे खरीद कर ले जाया करता था। गाँव मे ही एक बनिये की दूकान थी वही इन्हे आटा, दाल, नमक, मसाले इत्यादि दिया करता और जरूरत पडने पर वही उन्हे रुपया भी उधार दे दिया करता था। गरीबों की यह छोटी सी बस्ती इसी प्रकार गरीबी मे ही अपना गुजरान करती थी। किसी को कोई अभाव न था। थोडा पाते और थोड़े मे ही अपनी गुजर कर लेते थे। कुमार भी उन्हीं थोडे से गरीबों मे से एक हो गया। लोगो ने उसे एक छोटा सा जाल बना-कर दे दिया। वह भी सब के साथ समुद्र को जाता था। मछली मारता और मछली मारते मारते गाता था। जिस समय वह गाता उस समय उसके स्वर के कम्पन के साथ साथ समुद्र की छोटी छोटी तरगे थिरक

उठती थीं। अपढ अनसमझ मछवाहों का हृदय उस स्वर लहरी के साथ मत्त होकर नाच उठता। किन्तु कोई भी—वह स्वय भी नही जानता था कि वह क्या गा रहा है। केवल स्वर का आकर्षण था—हृदय की पुकार थी—आत्मा का आवाहन था।

कुछ समय बीत गया। नवयुवको मे एक नवीन भाव का सचार हुआ। एक टोली चल पडी शहर की ओर—नौकरी की तलाश मे। कुमार भी उन्ही के साथ चल पडा। इस बार वह खाली हाथ न था। एक वशी उसकी उँगलियों पर नाच रही थी। रह रह कर वशी उसके होठो पर चली जाती। एक स्निग्ध मधुर ध्वनि सुनने वाले के हृदय को बरबस अपनी ओर खीच लेती।

कुमार के अन्य साथी साधारण मछवाहे थे। जिसके जहाँ सीग समाये वही वह रह गया—एक दूसरे से अलग। जिसको जो छोटा मोटा काम मिला उसी से वह अपना पेट भरने लगा। जिसे कोई काम न मिला वह दो चार दिन शहर की सैर कर के घर वापस लौट गया। लेकिन कुमार—एक ललित कला उसके साथ थी। उसकी वशी के स्वर को सुन कर कितने ही शहरी युवक मुग्ध हो उठे। थोडे ही दिनो मे वह सभ्य समाज का एक आवश्यक अग बन गया। अच्छा साथ पाकर कुमार को भी अपने विकास का अवसर मिला। सगीत मे रुचि थी ही—साहित्य की ओर भी झुकाव बढा। प्रखर बुद्धि होने के कारण दिन पर दिन उसका भीतरी रूप निखरने लगा। असभ्य मछवाहा कुमार आज सभ्य समाज के लिये आदर की वस्तु बन गया। किसी को भी यह ज्ञात न था कि वह कौन है—कहाँ का रहनेवाला है।

मनचले युवकों का मनोरंजन करता था—उन्हीं से उसका काम भी चलता था।

एक दिन सध्या समय कुमार नदी की ओर चला गया। घाट से थोडी दूर हटकर एक वृक्ष के नीचे हरी हरी घास के मखमली बिछौने पर बैठ गया। पेड के तने से सहारा लेकर वह भाव में निमग्न हो गया। कभी कभी उसके हाथ की वशी स्वतः ही उसके होठों तक पहुँच जाती। बढते हुए अन्धकार की निस्तब्धता मे वशी का मधुर स्वर और भी मधुर हो उठता।

सहसा पानी मे एक शब्द सुनकर कुमार चौक पडा। वह उठकर पानी के और नजदीक आया—उसने देखा किनारे से थोड़ी दूर पर अन्धकार से भी अधिक काला बालों का एक गुच्छा पानी की सतह पर लहरा रहा है। क्षणमात्र मे ही सब बातें उसकी समझ में आ गई। जल का जीव कुमार दूसरे ही क्षण जल के अन्दर था—उसकी बलिष्ठ बाहुओं पर था सज्ञाहीन होता हुआ सा एक सौन्दर्यमयी ललना का कचन सा शरीर। कुमार की कोशिश से बालिका थोडी देर बाद होश मे आई। वह आश्चर्य चकित सी इधर उधर देखने लगी—कुछ याद करने का प्रयत्न करती हुई सी। सहसा उसकी आँखे कुमार के हाथ की ओर मुरीं—अन्धकार में भी वशी की अस्पष्ट काली छाया दिखाई दे रही थी। इन्दु की आँखो में कचित् क्रोध की रेखा खिच उठी। उसने जरा तीव्र से स्वर में कहा—"भले आदमी, तुम्हारा यह छोटासा खिलौना आज एक हत्या का अपराधी होता। अब भी वह तुम्हारे हाथ मे ही है?"

कुमार खिलखिलाकर हँस पडा। उसने कहा—"जी, मुझे नही पता था कि इस लकडी के ठूँठ पर मुग्ध होकर कोई अपने तन बदन की भी सुध खो बैठेगा। .. लेकिन यहाँ बैठना ठीक नही है। चलो, तुम्हारे घर पहुँचा आऊँ।"

खीझकर इन्दु ने कहा—"मुझे तुम्हारी मदद की जरूरत नहीं।" और वह चल पड़ी। कुमार एक बार फिर जोर से हँस पडा। इन्दु को क्रोध तो हुआ किन्तु उसे ख्याल आया कि यही उसके प्राण बचाने वाला है। उसने घूमकर कहा—"अरे, भाई, चलो। तुम्हे भैया से मिला दूँ। कुछ भी हो, तुमने मुझे डूबते से बचाया है।"

कुमार ने हँसकर उत्तर दिया—"मैंने कहा न था कि तुम्हे मेरी ज़रूरत पडेगी।"

इन्दु फिर झुँझला पड़ी किन्तु उसने कुछ कहा नही। थोडी देर बाद दोनों ने एक भव्य अट्टालिका मे प्रवेश किया। कुमार ने देखा—ऐश्वर्य के सामान चारों ओर बिखरे पडे थे। एक कमरे मे उसे बैठाकर इन्दु बगल के कमरे मे घुस गई। थोडी ही देर में कुमार ने एक आवाज सुनी। कोई कह रहा था—

"तू कैसी पागल है, इन्दु! कितनी ही बार तुझे मना कर दिया फिर भी तू इतनी देर से नदी नहाने जाती है और अकेली। कब तुझ मे अक़ल......"

"लेकिन, भैया, तुम्हारे घर में एक मेहमान बैठा हुआ है—उस का भी कुछ ख्याल करोगे या नहीं?"

"अरे हाँ, यह तो मैं भूल ही गया।" कुमार समझ गया कि कुछ ही क्षणो बाद उसे गृहस्वामी की अभ्यर्थना का उत्तर देना है। वह कुर्सी पर से उठ खडा हुआ। कमरे में प्रवेश करते हुए रमेश को कुमार ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। उस दिन बड़ी रात तक कुमार को अपनी वशी और सगीत से रमेश एव इन्दु का मनोरंजन करना पडा।

२

कुमार का आना जाना बढ़ गया और जैसा प्रायः सभी जगह होता है—कुमार और इन्दु का मेल-मिलाप भी बढ़ता गया। यद्यपि दोनो मे विचार-वैषम्य प्रचुर मात्रा मे था। किन्तु शायद हृदय के मिलाप में विचारो की विषमता बाधक नही हुआ करती। जब दोनो मिलते, हृदय की धड़कन बढ जाती—जीवन मे एक नई स्फूर्ति सी जान पडती—आँखे छिपी हुई मुस्कराहट के साथ रूप-सुधा का पान करने का प्रयत्न करतीं—स्नेह के प्रवाह मे दोनों आत्म-विस्मृत से हो जाते।

नारी का हृदय अस्थिर होता है। दूरी इन्दु को खटकने लगी। वह अपने प्रिय कुमार का सामीप्य चाहती थी—वह चाहे जिस तरह भी प्राप्त हो। प्रेम मे पाप नहीं होता—यदि होता भी है तो पवित्र पाप होता है। उसने अपना विचार कुमार से कहा। किन्तु कुमार मे अभी थोड़ा विवेक बाकी था। समाज—नैतिकता—अधःपतन—सर्वनाश। इन्दु खीझ उठी। "तुम कायर हो, कुमार। मैं इसका प्रबन्ध करती हूँ।" और वह चली गई।

बेचारा कुमार ! बड़े असमंजस मे उसे पडना पड़ा। नारी शक्ति है। जब उसमे किसी कार्य के लिये प्रेरणा जाग्रत होती है तो मनुष्य उसका केवल एक क्षीण विरोध मात्र कर सकता है। किन्तु वह विरोध नारी के उन्मद साहस और अदम्य कामना के सामने विफल हो जाता है। कुमार धड़कते हुए हृदय के साथ घर लौट गया। उधर इन्दु ने पत्र द्वारा रमेश से सब बाते कह दी—या तो रमेश उसका विवाह कुमार से कर दे नही तो वह कुमार के साथ चली जायगी।

रमेश एक गम्भीर युवक था। वह मामले की तह तक पहुँच गया और प्रवाह के साथ बह जाने मे ही उसने भलाई समझी। दूसरे दिन प्रातःकाल उसने कुमार को बुलाया। इन्दु के जाते समय के भाव से कुमार द्विविध भावनाओ के चक्कर मे पड़ा हुआ था। वह डरता हुआ रमेश के पास पहुँचा। रमेश ने उसे स्नेहपूर्वक अपने पास बैठा कर कहा—"कुमार, इन्दु ने मुझसे कहा है ·· 'लेकिन, क्या तुम भी इन्दु को प्यार करते हो ?"

कुमार रमेश की इस स्पष्टोक्ति से कुण्ठित सा हो गया। अपराध की विकृत भावना से उसके चेहरे पर एक कालिमा सी छा गई। उसने दीन स्वर में कहा—"रमेश, मैं लज्जित हूँ ·····"

"नहीं, नही, कुमार। लज्जित होने की कोई बात नही। हृदय ही तो है। यदि तुम दोनों एक दूसरे को प्यार करते हो तो बाध्य हो कर मुझे इन्दु का तुम्हारे साथ विवाह करना होगा।"

"लेकिन, रमेश, आधुनिकता के इस युग में······"

"कुमार, शायद सब लोग इस बात को नही समझते कि आधुनिकता के इस पर्दे मे हम अपने प्राचीनतम आदर्शों का ही पोषण करते हैं—हो सकता है, आज के विकृत रूप मे। उस जमाने मे लोगों को अपने हृदय पर विश्वास था—आज हम भावना के क्षणिक प्रवाह मे बह चलते हैं। कुमार, यह कहने के पहले कि तुम किसी को प्यार करते हो, अपने हृदय को अच्छी तरह ठोकपीट कर देख लो जिससे तुम्हे फिर पछताना न पडे।"

"पर रमेश, यह तो खयाल करो—मै कौन हूँ • •"

"कुछ नही, कुमार। यह तो हृदय का सौदा है। तुम कवि हो, कलाकार हो। इस छोटी सी बात को समझ सकते हो—उसकी गहराई तक भी पहुँच सकते हो और कोई होता तो शायद मैं भी इतना आगे नही बढता। किन्तु तुम्हे मै जानता हूँ। मेरा सिर्फ यही कहना है—यदि तुम दोनो अपने हृदय को पहचान रहे हो तो तुम्हे प्रणय बन्धन मे बाँधने मे मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

"तो रमेश, इतना मैं कह सकता हूँ कि मुझे ऐसा जान पड़ता है—मेरा हृदय इन्दु का सामीप्य चाहता है।"

"जान पड़ने से ही तो काम न चलेगा, कुमार। तुम्हे अपने पर विश्वास होना चाहिये। भावुकता के प्रवाह मे भी अविच्छिन्न विश्वास का साम्राज्य चाहिये।"

और एक दिन कुछ इष्ट मित्रो की उपस्थिति मे इन्दु और कुमार का विवाह बहुत ही सादे ढग से सम्पन्न हो गया। किसी ने रमेश की प्रशसा की, किसी ने उसे धन का लोभी बताया, किसी ने उसे विवेकहीन

कहा और किसी किसी ने तो उसे पागल तक समझ लिया। किन्तु जिसे दुनिया पागल समझती है उसे भी दुनिया को पागल समझने का अधिकार प्राप्त है।

३

कुमार गरीब था। बचपन से ही विपत्तियों की गोद में पला था। सुख के इन थोडे से दिनो में वह एक क्षण के लिये भी इस बात को न भूल सका कि किस प्रकार उसे अपने जीवन में सुख-दुख के मीठे-कड़ुवे अनुभव प्राप्त हुए हैं। वह अपने जीवन को सादा और आडम्बर-हीन बनाना चाहता था। गरीबी मे पला था—गरीबो का सा दिल था। थोडे मे ही अपना गुजर करना चाहता था। आनन्द की वंशी बजाते हुए अपने में ही मस्त रहना चाहता था।

इन्दु एक वैभवशाली पिता की सन्तान थी; स्नेहशील भाई की दुलारी बहन—आराम और वैभव की गोद मे पली हुई। दुख और ग़रीबी को जानती भी न थी। उसने प्यार किया था कुमार को—उसकी ग़रीबी को नही। गरीब कुमार के घर में भी वह राजरानी की भाँति रहना चाहती थी। कुमार के भोले हृदय पर वह शासन करना चाहती थी। मानिनी नायिकाओं की भाँति वह चाहती थी कि कुमार सर्वदा उसकी नजरों का गुलाम बना रहे। फिर भी उसमे भोलापन था। वह कुमार को प्यार करती थी। उसकी उन्नति चाहती थी। किन्तु उन्नति के साधनो को अपनाने की क्षमता उसमे न थी और न परिस्थिति के प्रवाह में अपने को अनुकूल दिशा मे बहा देने की सामर्थ्य। वह विपरीत प्रवाह

की ओर चलना चाहती—अपने साथ कुमार को भी घसीटना चाहती—सफलता प्राप्त न होने पर खीझ उठती—अपने भाग्य को कोसती। कुमार का जीवन कटकाकीर्ण हो चला।

प्रेम की उन्मद भावनाओं में विचार और विवेचना शक्ति चुपचाप एक कोने में छिप जाती है क्योंकि उसे पूछने वाला कोई नहीं रहता। भावुकता के प्रवाह में युवक और युवतियो के हृदय से एक उल्लास से भरी हुई पुकार उठती है किन्तु उस समय वे यह नहीं सोचते कि वास्तव में यह पुकार उनके हृदय की—उनकी आत्मा की पुकार है या नहीं। वे बह जाते हैं प्रवाह की तीव्रता के साथ—अपने को सँभालते नहीं। न सॅभलने ही मे—बहे जाने ही में उन्हें एक आनन्द का अनुभव होता है। किन्तु वह तभी तक जब तक कि प्रवाह अबाध है। बन्धन जब सामने आता है तब मादकता की वह खुमारी टूटती है। तब उन्हे अपनी भूल मालूम होती है—वह भूल जो शायद जीवन की सब से बडी—सब से कष्टदायक भूल थी। उस भूल के परिणाम में शायद उनके जीवन का सारा आनन्द—सारी उष्णता नष्ट हो जाती है।

कुमार के हृदय ने इन्दु को प्यार किया और इन्दु ने कुमार को। प्यार ने प्यार को पहचाना किन्तु हृदय ने हृदय को नहीं। हृदय एक दूसरे को अनुकूल न बना सके। कुमार को ऐसा जान पड़ा जैसे उसने कोई बडी भूल की हो—इन्दु को जान पड़ा जैसे कुमार उसके योग्य न था। कुमार ने हृदय के विकार को नष्ट कर के अपने को इन्दु के अनु-कूल बनाना चाहा लेकिन इन्दु इतना त्याग न कर सकी। वह कुमार

को प्यार न करती थी—ऐसी बात न थी। किन्तु वह अपने ऐश्वर्य और वैभव के अभ्यस्त जीवन को कुमार के गरीबी और सादगी से भरे हुए जीवन से न मिला सकी।

कुमार ने प्रारम्भ से ही अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाना सीखा था। जब तक वह अकेला था तब तक तो उसे कोई चिन्ता न थी किन्तु अब वह एक भार का अनुभव करने लगा। जिसका हाथ उसने पकडा था उसकी इच्छाओं की—आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी उसका कर्तव्य था। वह किसी काम की तलाश करने लगा। लेकिन मुश्किल तो यह थी कि इन्दु उसे अपने से अलग नहीं करना चाहती थी। फिर भी कोई न कोई काम तो करना ही पडता। एक दिन एक फिल्म कम्पनी के डाइरेक्टर ने कुमार का सगीत सुना—उसकी माधुरी पर वह मुग्ध हो उठा। उसने कुमार से कम्पनी में आ जाने के लिये कहा। कुमार तो कोई काम चाहता ही था। बातचीत पक्की कर ली। खुशी-खुशी घर आया और हँसते हँसते यह समाचार इन्दु को सुनाया। सोचा था—इन्दु सुन कर खुश होगी लेकिन इन्दु बिल्कुल चुप। कुमार की सारी खुशी ग़ायब हो गई। थोड़ी देर की खामोशी के बाद इन्दु ने कुमार से कहा—' आखिर यह तुमने क्या सोचा ?"

"क्यो ? कोई न कोई काम तो मुझे करना ही पडता।"

"लेकिन मैं यह पूछती हूँ कि दुनिया मे तुम्हे और कोई काम ही न मिलता था ? फिल्म मे जाओगे—नाचोगे—गाओगे। बडे खूबसूरत मालूम होगे न ?"

"बात को तो तुम समझती हो नहीं। मैं कलाकार हूँ। अभिनय एक कला है। कला कोई भी तुच्छ नही होती। यदि कला हमारी गरीबी को कुछ अशो मे दूर कर सके तो उसे अपनाने में हमें क्या शर्म है ?"

"तो क्यों नहीं किसी फिल्म कम्पनी के डाइरेक्टर बन जाते ? एक मामूली अभिनेता बन कर क्यो अपनी कीर्ति और कला को अवनत बनाते हो ?"

कुमार इन्दु के भोलेपन पर हँस पडा। उसने उत्तर दिया—"सब्र करो, इन्दु। धीरे धीरे सब कुछ हो जायगा। आज मैं एक अभिनेता बन जाता हूँ तो इस दिशा मे मुझे विकास का अवसर मिलता है। यदि मैं सफल हुआ तो हो सकता है कि मैं धीरे धीरे डाइरेक्टर होने की भी योग्यता प्राप्त कर सकूँ।"

इन्दु के माथे मे बल पड गये। उसने तीव्रता के साथ कहा—लेकिन मैं नही समझ पाती, कुमार, कि तुममें कौन सी ऐसी योग्यता नही है जो तुम्हारे डाइरेक्टर होने के मार्ग मे बाधा उत्पन्न करे ? क्या और जितने डाइरेक्टर हैं वे तुमसे ज्यादा योग्यता रखते हैं ?"

"योग्यता की बात नही है, इन्दु। मेरा अनुभव अभी नया है। जब दो चार बार मैं अभिनय के मार्ग मे उतरूँगा तो मेरा अनुभव परिपक्व हो जायगा और तब मैं एक सफल डाइरेक्टर हो सकूँगा।"

"मै वह सब कुछ नही जानती। कुमार, तुम्हे मेरा भी कुछ ख्याल होना चाहिये। मैं किस खान्दान की लडकी हूँ। मैं एक तुच्छ अभिनेता की पत्नी होना कभी भी सहन न कर सकूँगी। ना, ना,

तुम्हे यह इरादा छोड़ ही देना पडेगा। तुम्हे कम से कम मेरा ख्याल करना ही होगा।"

यह एक ऐसी बात थी जिसने कुमार के कलेजे मे चोट की। उसे भी क्रोध आ गया। उसने कहा—"मैं तुम्हारे ख्याल के लिये अपनी जिन्दगी का ख्याल छोड़ दूँ—यह तो मुझसे न हो सकेगा, इन्दु। तुमने एक गरीब के साथ शादी की है तो तुम्हे उसकी गरीबी का भी साथ देना ही पडेगा।"

इन्दु का अभिमान आहत हुआ। उसे खीझ हुई अपनी बेबसी और कुमार के हठ पर। उसने अपनी बड़ी बड़ी आँखे उठा कर कुमार की ओर देखा। धीरे धीरे उन आँखों मे आँसू भरने लगे। उसने सिसकते हुए कहा—"हाँ तो ऐसा कहो। तुम मुझे अब प्यार नही करते और इस प्रकार मुझसे पिंड छुडाना चाहते हो। लेकिन कुमार, अगर तुम्हे ऐसा ही करना था तो क्यों तुमने मुझसे ·····" और इतना कहते कहते इन्दु रो पड़ी। उसकी आँखो से टपाटप आँसू गिरने लगे।

कुमार बेचारा बड़ी विपत्ति मे था। किसी ओर से उसे छुटकारा न था। क्रोध तो उसे बहुत हुआ किन्तु यहाँ क्रोध से काम नहीं चलता। उसने इन्दु को समझाना शुरू किया लेकिन असर उल्टा हुआ। उसका सिसकना और बढ गया। वह कुमार की गोद में मुँह छिपा कर और भी रोने लगी। कुमार इन्दु को प्यार करता था। उसकी इस दशा से उसके हृदय को बड़ा कष्ट हुआ। अन्त मे उसे फिल्म की ओर जाने का विचार छोड़ ही देना पडा क्योंकि डाइरेक्टर वह हो नहीं सकता था और अभिनेता उसे इन्दु होने नहीं देती। परि-

स्थिति ज्यो की त्यों रही। कलह हुआ—हृदय को चोट पहुँची—मनो मालिन्य की वृद्धि हुई सो अलग।

४

कुमार ने और भी कई छोटी मोटी कोशिशे कीं किन्तु इन्दु के मारे उसकी नाको दम था। प्रथम तो इन्दु उसे कोई भी ऐसा काम नहीं करने देना चाहती थी जिससे कुमार उससे ज्यादा देर के लिये अलग रहे। दूसरे वह कुमार को एक बार ही उन्नति के ऊँचे स्थान पर देखना चाहती थी। फिर वह उसे कोई छोटा काम क्यों करने देती। और सबसे ज्यादा उसे अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल था। कुमार परेशान हो उठा। जीविका का कोई न कोई साधन प्रस्तुत करना था किन्तु साधन मिलने पर भी वह साधन को अपना न सकता था। पास में जो थोडा बहुत था वह खर्च होता जा रहा था। आगे की चिन्ता रात दिन उसके सिर पर सवार रहने लगी। धीरे धीरे उसी चिन्ता मे उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। यह देख कर कुमार ने एक बार फिर अपने उस छोटे से गाँव की ओर जाना चाहा—गरीबों की उसी बस्ती मे जिसने उसे उसकी फटेहाली मे आश्रय दिया था—जो आज भी उसे अपनी गोद मे समेटने को तैयार था। इन्दु ने जब यह सुना तो उसे कुछ खुशी ही हुई। कुछ दिन के लिये तो उसे इन रोज रोज की झंझटों से छुटकारा मिलेगा।

कुमार का वह छोटा सा गाँव प्रकृति की गोद में बसा हुआ था। चारों ओर छोटे बडे पहाडो से घिरा हुआ था। बन की सुन्दर सुषमा

से लिपटा हुआ वह गॉव शान्ति का एक अनोखा आश्रय-स्थल था। स्वास्थ्यप्रद सुगन्धित वायु मन को प्रफुल्लित बनाने वाली थी। इन्दु उस प्रकृति-माधुरी को देख कर मुग्ध हो उठी। उसने कुमार को उसे ऐसे स्थान मे ले आने के लिये कितना धन्यवाद दिया। वह दौड गई कुमार के घर के समीप ही बहने वाली पतली सी टेढी मेढी नदी के तट पर और फुदक फुदक कर नाचने लगी पहाडो की सुन्दर तल-हटियो मे। शहर के उत्तप्त विषाक्त वायु-मण्डल से प्रकृति का यह छोटा सा क्रीडास्थल कितना सुन्दर था!

लेकिन इन्दु के हृदय की वह खुशी थोड़ी देर बाद गायब ही हो गई। कुमार इतने दिनो के बाद घर लौट आया था। गॉव के आदमी उससे भेट करने के लिये आये। वे अर्द्धनग्न बदसूरत गरीब आदमी जिनके बदन से सडी हुई सी बदबू बराबर निकला करती—कुमार किसी के पैर छूता, किसी को गले लगाता। बहुत दिनों के बिछुड़े हुए आपस मे मिले। कुमार के गाँव में एक उत्सव सा हो गया। उस उत्सव मे भाग लेने वाले थे गरीबो के स्नेह से भरे हुए निर्दोष हृदय। इन्दु ने जब यह सब देखा तो वह घबडा सी उठी। ग़रीबों से उसे घृणा तो थी ही। फिर ये फटेहाल, बदसूरत, दुर्गन्धियुक्त मछवाहे—कुमार उनसे कितने प्रेम के साथ मिल रहा था। ओह! इन्दु की नाक फटने लगी। उसे ऐसा जान पड़ा जैसे उसका हृदय अभी बाहर निकल पडेगा। वह बेहोश सी होने लगी।

पर इन्दु की विपत्ति यही नहीं खतम हुई। थोडी ही देर बाद गॉव की स्त्रियॉ उससे मिलने को आने लगी। स्त्रियो की हालत पुरुषो

से भी खराब। गन्दगी उनकी चिर-सगिनी थी। फिर उनके बातचीत और व्यवहार का देहाती ढग। इन्दु को ऐसा जान पडा जैसे उसका कलेजा मुँह को आ रहा हो। उस ने अस्वस्थता का बहाना करके किसी तरह उनसे पिड छुडाया। दिन जैसे बीतने लगे वैसे लोगों का आना जाना भी कम हो गया। फिर भी देहात का मामला। लोग आ ही जाते थे। इन्दु किसी तरह मन मार कर, नाक भौंह सिकोड कर उनसे निबटती। किन्तु एक दिन जब उसने देखा कि कुमार नगे पाव, आधे बदन पर कपडा पहने, हाथ में जाल लिये मछली मारने को तैयार हो कर जा रहा है तब तो उसकी विपत्ति की पराकाष्ठा हो गई। क्या यह वही कुमार है—सलोना, सुन्दर, सुकुमार और सभ्य! आह! यह उसका कैसा वेश है! अभागी इन्दु, क्या उसे अपने प्रियतम से भी घृणा करनी पडेगी। वह दौड़ कर कुमार के पास गई और रोते रोते कहने लगी—"कुमार, यह तुम क्या कर रहे हो? यह तुम्हारा कैसा वेश है? क्या तुम मुझे जीने भी न दोगे?" कुमार ने हँस कर उत्तर दिया—"तुम भी तो मुझे जीने नहीं देना चाहती हो। आखिर जीने का कोई न कोई उपाय तो करना ही होगा।" और वह एक विद्रूप हँसी हँसता हुआ चला गया। इन्दु को ऐसा जान पडा जैसे उसके बदन में सैकडो बिच्छू डक मार रहे हों। वह भाग कर अपने कमरे के एक कोने में छिप गई। वह ससार की नजरों से अपने को छिपा लेना चाहती थी। रोते रोते उसका बुरा हाल हो गया। रोती जाती और उस दिन को कोसती जाती जिस दिन उसका कुमार से प्रथम साक्षात् हुआ था।

आवश्यकतायें अधिक थी। कुमार का काम नही चलता था। वह सोचता रहता—क्या किया जाय। एक दिन सहसा एक विचार उसके मन मे उठा। सोचने पर बात उसके मन मे बैठ गई। उसने जाल फेंक दिया। फिर से सभ्यता का बाना पहना। सभ्यता से भरे हुए उस वेश मे कुमार का रूप एक बार फिर निखर पडा। इन्दु को खुशी हुई—किन्तु वह खुशी स्थायी न थी। कुमार दिन पर दिन इन्दु से खिचता जा रहा था। इन्दु स्वय भी इस बात को महसूस कर रही थी। उसे जान पडा जैसे कुमार उससे दूर—बहुत दूर चला जा रहा है। तो क्या इस सबका यही अन्त होना था ! इन्दु का हृदय दुखी हो जाता। किन्तु उच्चता का अभिमान अभी भी उसमे वर्तमान था। अब भी वह कुमार के हृदय पर अभिमान से शासन करना चाहती थी।

कुमार अब कई दिना तक बाहर रहता था। इन्दु की कुछ समझ मे नही आता कि वह कहाँ जाता है अथवा क्या करता है। अगर वह कुमार से कुछ कहती तो वह हँसकर टाल देता। इन्दु के दिन इसी प्रकार एकान्त मे बीतने लगे। जिसे वह अपने से कभी अलग नही करना चाहती थी वही अब हफ्तों तक सूरत न दिखाता—फिर भी उसे सन्तोष करना पडता था। वह शिकायत मे होठ भी नही हिला सकती थी। उसे जान पडता—जैसे यह विपत्ति उसी की मोल ली हुई है। वह रोना चाहती किन्तु वह भी दुनिया की नजरों से छिपाकर। उसका हृदय अन्दर ही अन्दर दग्ध होने लगा।

दिन और महीने यों ही बीतते गये। एक दिन कुमार ने इन्दु से आकर कहा कि उन दोनो को गोपाल के यहाँ निमन्त्रण में जाना होगा।

गोपाल कुमार का एक मित्र था। उसका घर सुन्दर पहाडियो से घिरी हुई एक झील के किनारे था। किन्तु प्रकृति की सुन्दरता इन्दु के सूने हृदय को आकर्षित न कर सकी। उसे जिस चीज की आवश्यकता थी वह उसे मिल ही नही रही थी फिर उसे दुनिया से क्या मतलब? उसने विचलित स्वर मे कहा—"मैं कही भी नही जाना चाहती।"

"लेकिन इन्दु, गोपाल मेरा मित्र है। उसने बडे प्रेम से हमें आमन्त्रित किया है।"

"तुम्हारा होगा। मेरा दुनिया मे कौन है।"

कुमार के हृदय को चोट लगी। वह थोड़ी देर तक चुप रहा। फिर उसने कहा—"इन्दु, मैं वादा कर चुका हूँ।"

"तुम्हे वादा करने की कोई जरूरत न थी"—इन्दु ने अपने उसी पुराने अभिमान के साथ उत्तर दिया।

"इन्दु, आज तो हमे जाना ही पड़ेगा।"

"मैं तो नहीं जाती। तुम जा सकते हो।" और इन्दु नही गई।

दो तीन दिन बाद कुमार ने इन्दु से कहा—"देखो इन्दु, अभी भी तुम अपनी स्थिति नही समझतीं। उस दिन तुम गोपाल के यहाँ नही गई। गोपाल हमसे नाराज हो गया और उसने अपना सारा गल्ला दूसरे को दे दिया।"

"तो इससे हमारा क्या नुकसान हुआ।"

"हमारा नुकसान कैसे नहीं हुआ?" कुमार ने इन्दु को बतलाया कि कुछ दिनों से वह गल्ले का और ऐसी ही कई एक चीजों का व्यापार कर रहा है। व्यापार मे उसे लाभ भी हो रहा है। गोपाल अपना

ग़ल्ला उसी के हाथ बेचा करता था। इस बार दूसरे के हाथ चले जाने से उसे सौ रुपये का नुकसान हुआ।"

"सौ रुपये का नुकसान हुआ? तो कोई बात नहीं। सौ रुपया कोई बडी चीज नहीं।"

"कुमार स्तम्भित सा रह गया। उसने सूनी सूनी नजरों से इन्दु की ओर देखा और कहा—"तुम्हारी जैसी राजरानियो के लिये तो कोई चीज नहीं लेकिन हम गरीबों के लिये तो बहुत बड़ी चीज है।" और वह उदास हो कर वहाँ से चला गया।

इन्दु को कुमार की उदास मुद्रा देख कर बहुत दुख हुआ। कहने को तो वह कह गई थी लेकिन फिर उसे उसी वक्त अपनी बात के लिये बहुत अफसोस हुआ। यद्यपि उसमें अभी बडे आदमीपन का अभिमान बाकी था किन्तु जीवन की परिस्थिति सामने थी। इस परिस्थिति में सौ रुपये थोडे नहीं थे और उसी के कारण व चले गये। उसी के कारण कुमार के दिल को चोट लगी। इन्दु वास्तव मे दुखी हुई। इधर कई दिनों से वह अपनी भूल को महसूस कर रही थी। वही कुमार की उन्नति के मार्ग का काँटा हुई। उसे अपने ही ऊपर घृणा होने लगी। कुमार—वही कुमार जो उसे किसी समय अपने हृदय से अलग नहीं करना चाहता था—आज दर दर की ठोकरें खा रहा है। इन्दु को डर हुआ—कही वह कुमार को सदा के लिये न खो बैठे।

५

कुमार कई दिन तक घर नहीं लौटा। इन्दु को बड़ी चिन्ता हुई। कहीं कुमार उसे छोड़ कर तो नहीं चला गया। कहीं उसे और कुछ तो नही हो गया। तरह तरह की चिन्तायें इन्दु को सताने लगी। और भी तो कुमार इसी प्रकार चला जाता था लेकिन उसका हृदय ऐसा व्याकुल तो नहीं हुआ था। इन्दु क्या करे—किससे कहे! कोई भी तो उसका नहीं था। स्वय कुमार भी तो उससे विमुख हो रहा था। अपनी व्याकुलता में वह रो पडी। इस बार यदि उसका कुमार उसे मिल जाय तो वह उसे फिर कभी अपने से अलग न होने दे।

उसी समय बाहर गाड़ी की खड़खड़ाहट सुन पड़ी। इन्दु ने खिडकी से झाँक कर देखा—कुमार ही था। गाडी पर छोटी छोटी कितनी ही थैलियाँ लदी हुई थी। कुमार ने एक एक करके सभी थैलियाँ ला कर कमरे की फर्श पर रक्खी। इन्दु ने पूछा—"यह सब क्या है?"

कुमार ने एक थैली को उलट दिया और कहा—"रुपया।"

"और वह सब?"

"सब रुपया।"

"ऐ, यह सब किसका रुपया है?"

"मेरा—तुम्हारा। इन्दु, अब हम दौलतमन्द हैं।" और उसने इन्दु को बतलाया—कैसे गत दो तीन वर्षो से उसे अपने व्यापार मे लाभ हो रहा था और किस प्रकार इस समय उसे एक बडे सौदे मे

अच्छा मुनाफा हुआ। कुमार ने आज तक इन्दु से अपने व्यापार के लाभ के विषय मे कुछ नहीं कहा था। इन्दु खुशी से नाच उठी। आज उसे कुमार और दौलत दोनों ही मिल गये। क्या वह उस धन की बदौलत कुमार के साथ शहर मे जा कर और लोगो की भाँति शान से नही रह सकती? उसने उल्लास भरे शब्दो मे कहा—"कुमार, अब तो हमारे पास दौलत हो गई। क्यो न हम भी अब शहर जा कर आनन्द और शान से रहे।"

कुमार के हृदय मे एक विचार उठा। इन्दु आज तक चुपचाप इस जगली जगह मे पड़ी पड़ी प्रतिक्षण शहर के लिये तरसा की। लेकिन अपनी जबान से एक बार भी उसने कोई शिकायत का शब्द नहीं निकाला। इतना त्याग इतना मनस्ताप इन्दु ने उसी के लिये सहा। कुमार की आँखो मे प्रेम के आँसू उमड पडे। लेकिन दूसरे ही क्षण उसे ख्याल हुआ कि इन्दु अब भी दौलत की चेरी है। उसका सारा उत्साह पानी हो गया। उसने नीरव दृष्टि से इन्दु की ओर देखा और कहा—"नहीं इन्दु, यही मेरा घर है—यही मेरा जीवन है। इसी ने मुझे दुख मे आश्रय दिया—अब सुख मे मैं इसे नहीं छोड सकता। · ·· और दौलत—यह खेल मौज करने के लिये नहीं है। इससे न जाने कितने ग़रीबो का भला किया जा सकता है।··· ··शहर मेरे जैसे गरीबो के लिये नही है, इन्दु। जाओ, तुम अगर जाना चाहती हो तो खुशी-खुशी जा सकती हो।"

इन्दु को ऐसा जान पड़ा जैसे वह वही कुमार नहीं—कोई और ही कुमार है। कितना परिवर्तन—इन्दु से कितना दूर! तो क्या सच-

मुच उसने कुमार को खो दिया ? क्यो ? अपनी ही भूल के कारण न !
इन्दु को चैन न पड़ी। वह रात भर इधर से उधर करवटें बदलती
रही। जब चैन न पडी तो घर से बाहर निकली और सरिता के तट पर
बैठ कर शून्य दृष्टि से सामने की पहाड़ी की ओर देखने लगी। उसके
मानस पट पर गत जीवन के चित्र एक एक करके आने लगे। पग-
पग पर उसे अपनी भूल मालूम होने लगी। वह अपने आप ही बोल
पडी—"मैं वैभव की गोद मे पली थी। धन और आनन्द ही मेरे
लिये सब कुछ था। इसी बीच मैंने कुमार को प्यार किया।··· ··ग़रीब
होते हुए भी कुमार महान् था। ·· ··मैं कुमार को उन्नत देखना
चाहती थी किन्तु उन्नत होने के साधनों को मै अपना न सकी। मैं
उसके उन्नत होने के मार्ग मे काँटा ही बनी ··· ··धन—अब उसके
पास धन है। मैं समझती थी—धन से जीवन आनन्द और उल्लासमय
बनाया जा सकता है। वह रहता है—धन से कितने ही गरीबो की
अन्धेरी झोपडियो मे चिराग जलाया जा सकता है ! आह ! कितने
सुन्दर और निर्मल हैं उसके हृदय के भाव ! · लेकिन क्या कुमार
ही उसे पहचान रहा है ? वह समझता है—मैं उसके धन को चाहती
हूँ। किन्तु मेरे हृदय के घाव से जो रक्त टपक रहा है उसे वह नही
देखता। दोनो ही ओर भूल है ! फिर उस भूल का प्रायश्चित्त ? ····
पुरुष तो पुरुष ही है। उसकी सत्ता—उसका प्रभुत्व झुकना नहीं
जानता। किन्तु नारी—उसकी कोमलता की विभूति—उसके आत्म-
समर्पण की स्निग्धता ? यदि नारी अपने भावनामय त्याग को भूल
कर शक्ति की साधना करे तो सृष्टि एक अजीब चक्कर मे पड

जाय।······कुमार, मैंने तुम्हे प्यार किया था। प्यार का अंकुर मेरे हृदय मे था। हो सकता है—परिस्थितियों की चपेट मे आकर वह प्यार आपदा-ग्रस्त हो गया हो। लेकिन उस आपदाग्रस्त प्यार को सॅभालना भी तो नारी के हृदय का ही काम है। मैं आज उस प्यार की रक्षा के लिये अपने आत्म-सम्मान को ठुकरा कर तुम्हारे चरणों में अपने नारीत्व की भेट चढाऊँगी।· ···जिसे मै अभिमान से अपने शासन में न ला सकी उसी के हृदय पर मेरे आँसुओ का साम्राज्य होगा।

उस समय एक अपूर्व स्निग्धता इन्दु के मुख मण्डल पर व्याप्त हो रही थी। पहाडी की ओट से झाँकती हुई सूर्य की सुन्दर सुनहरी किरणे उसके क्लान्त अधरो को चूम रही थी।

मानस-प्रतिमा

१

"चित्रकार, क्या मेरा भी एक चित्र बना दोगे ?"

चित्रपट से नजर हटाकर चित्रकार ने देखा कि उसके दरवाजे पर चार पॉच समवयस्का सुन्दरियो से घिरी हुई एक लावण्यमयी ललना खड़ी है। उसके होठों पर हँसी की रेखा थी, आँखों में शर्म भरी मुस्कराहट। चित्रकार ने बहुतेरे चित्र बनाये थे। प्रकृति की निराली छटा मे भोले-भाले सौन्दर्य को अपनी तूलिका के प्रवाह मे लाना ही उसका नित्य का काम था। किन्तु ऐसा मोहक सौन्दर्य उसके कल्पना-जगत् मे भी आज तक नही आया था। चित्रकार की आँखें कुछ देर के लिये जम गई उसी अनुपम सौन्दर्य पर।

एक सखी ने हँस कर पूछा—"चित्रकार, क्या देख रहे हो ?"

शर्म से उसकी आँखे नीची हो गई। कुछ देर के बाद उसने कहा—"मेरे लिये क्या आज्ञा है ?"

उसी सखी ने उत्तर दिया—"राजकुमारी की इच्छा है कि उनका एक चित्र अभी बनाया जाय।"

कुछ सोच कर चित्रकार ने अपनी कलम उठाई।

रग की तूलिका गजब का काम कर रही थी। धीरे-धीरे चित्र-पट पर राजकुमारी की तस्वीर स्पष्ट होती जा रही थी। सखियाँ मुग्ध होकर उसके हाथ की सफाई देख रही थी। लेकिन राजकुमारी का ध्यान कहीं और था।

चित्र प्रस्तुत हो गया। प्राण नही थे और सब कुछ था। सभी ने चित्रकार की निपुणता की प्रशसा की। अन्त मे राजकुमारी ने चित्र-कार से पूछा—"अच्छा जी, तुम्ही बताओ, चित्र कैसा है?"

चित्रकार ने एक नजर चित्र पर डाली। उसने देखा—राजकुमारी की आँखों मे अभिमान का भाव था। राज-मद की कठोरता उसकी भौंहो पर नाच रही थी। चित्रकार का मुख मलिन हो गया। उसने कहा—"माफ करना, राजकुमारी, मुझे पसन्द नहीं है।"

राजकुमारी की आँखे शर्म और क्रोध से लाल हो गई। उसने कहा—"मेरा इतना अपमान! तुम्हे इसकी सजा मिलेगी।"

चित्रकार ने उत्तर दिया—"अपमान नहीं राजकुमारी। चित्र-कार की आँखे सभी वस्तुओ को कला की दृष्टि से देखती हैं।"

राजकुमारी लज्जित होकर वहाँ से चली गई। चित्र वही पडा रह गया।

२

नदी के किनारे अपनी निर्जन कुटिया मे चित्रकार बैठा हुआ है। लेकिन आज उसका मन चित्र खीचने मे नहीं लग रहा है। सामने ही राजकुमारी का चित्र है। उसका मन बराबर राजकुमारी की ओर जा रहा है। प्रेम और अभिमान में लडाई हो रही है। आज तक उसे ऐसी स्थिति का सामना नहीं करना पडा था।

वहॉ से उठकर वह नदी के किनारे आया। इठलाती हुई नदी टेढी-मेढी चाल से बह रही थी। उसने सोचा—"क्या ससार की यही गति है? क्या सभी जगह सौन्दर्य में अभिमान है?" प्रेम ने उत्तर दिया—नही। यही नदी जब समुद्र से मिलती है तो इसका सब अभिमान चूर हो जाता है। प्रेम मे गर्व को स्थान नही है।"

सन्ध्या समय चित्रकार नदी के किनारे बैठा प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा देख रहा था। अस्तोन्मुख सूर्य की रक्त किरणे नदी के लहराते हुए जल को आलिंगन कर रही थीं। मानी पपीहा प्यारे की धुन में "पी कहॉ" "पी कहॉ" की रट लगा रहा था। मुग्धा सन्ध्या प्रियतम चन्द्रदेव से मिलने की तैयारी कर रही थी। चारों ओर प्रेम का साम्राज्य था। इसी समय उसने एकाकिनी राजकुमारी को अपनी ओर आते देखा।

× × ×

"चित्रकार, फिर क्या कहते हो?"

"क्षमा करना, राजकुमारी! मैं तुम्हे प्यार नही कर सकता।"

"चित्रकार, मेरा सौन्दर्य सारे प्रान्त मे विख्यात है। मुझे पाने के लिये बडे बडे राजकुमार व्याकुल हैं। जरा सोचो भी, मेरा प्रेम स्वीकार कर लेने से तुम्हारे भाग्य खुल जाते हैं।"

"अभागे का भाग्य ही कितना बडा है, राजकुमारी! तुम्हारा सौन्दर्य मेरी मानस-प्रतिमा के सौन्दर्य की तुलना मे कुछ भी नही है।"

"उफ्, मेरे प्रेम का इतना तिरस्कार! राजकुमारी का इतना अपमान! चित्रकार, कल तुम्हे इस गुस्ताखी की सजा मिलेगी। क्रोधान्ध राजकुमारी तेजी के साथ वहाँ से चली गई।

उसी दिन रात को चित्रकार अपनी कुटिया मे बैठा हुआ था। उसके सामने एक बढिया सा चित्रपट था। चित्र खीचने के सभी सामान प्रस्तुत थे। लेकिन वह कल्पना के किसी आनन्दमय ससार में विचरण कर रहा था।

सहसा उसने कलम उठाई। रेखाये खिचने लगीं। रग भरे जाने लगे। थोडी ही देर मे तस्वीर तैयार हो गई। राजकुमारी वही थी लेकिन चेहरे का भाव कुछ और ही था। चित्रकार ने एक लम्बी साँस लेकर कहा—"प्रभो, क्या कभी राजकुमारी का सौदर्य इस सौदर्य तक भी पहुँच सकेगा? क्या अभागे चित्रकार की यह अभिलाषा पूर्ण न हो सकेगी?

उसने चित्र को पहले चित्र की बग़ल मे रख कर उस पर एक पर्दा डाल दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल।

चित्रकार ने एक करुणाभरी दृष्टि अपनी निर्जन कुटिया पर डाली और राजकर्मचारियो के साथ हो लिया। राजाज्ञा से उसे राजकुमारी का अपमान करने के अपराध में कारावास का दण्ड मिला। नदी का सूना तट और भी सूना हो गया। चित्रकार की सूनी कुटिया ससार-चक्र के परिवर्तन का निर्देश कर रही थी।

३

राजकुमारी ने अभिमान मे आकर चित्रकार को दण्ड दिया किन्तु प्रेम का बीज हृदय-क्षेत्र मे अकुरित एवं प्रस्फुटित हो चुका था। उसने सोचा—एक मामूली से चित्रकार ने मेरे प्रेम को ठुकरा दिया। क्यों? मुझ मे राजकुमारी होने का अभिमान है, इसी लिये तो। मैं नारी-सुलभ कोमल और स्निग्ध भावो को भूल गई हूँ। उसने सच ही तो कहा—प्रेम में गर्व को स्थान नहीं। फिर क्या करूँ हृदय तो पहले ही उनके चरणो में पुष्पाञ्जलि चढ़ा चुका है। ·· ·····

राजकुमारी, अब भी समय है। अभागिनी, यदि अब भी अपने प्रियतम का प्रेम प्राप्त करना चाहती है तो उसके लिये तपस्या कर। अभिमान को त्याग कर सरलता और करुणा को हृदय मे स्थान दे। तभी तू उनके प्रेम पर विजय प्राप्त कर सकेगी। ·····वह विजय कितनी पावन, कितनी मादक, कितनी मधुर होगी!

× × ×

जिस राजकुमारी के मुख पर अभिमान और उच्छृखलता की छाया सर्वदा वर्तमान रहती थी—जिस राजकुमारी के शासक हृदय

ने अपनी आज्ञा और इच्छा के विरुद्ध 'ना' सुनना जाना ही न था—जिस राजकुमारी के भ्रूभंग से ही राज्य के सभी लोग थर-थर काँपते थे—वही राजकुमारी अब सरलता और स्नेह की मूर्ति हो रही है—उसका शासक हृदय आज स्वय प्रेम द्वारा शासित हो रहा है। उसके शब्दो से आज लोगों मे आतक के स्थान पर श्रद्धा और स्नेह के भाव उदय होते हैं। प्रेम, तू धन्य है! तू नीचे से भी नीचे स्थान से लोगो को किस ऊँचे स्थान तक पहुँचा देता है!

शारदी पूर्णिमा थी। भगवान् चन्द्रदेव अपनी निर्मल ज्योत्स्ना से पृथ्वीतल को आलोकित कर रहे थे। राजकुमारी अपने उद्यान में अकेली बैठी हुई थी। सामने ही कारागार था। वह सोच रही थी—कैसे वह अपने प्रियतम का प्रेम प्राप्त कर सके। विरह का सन्ताप प्रतिक्षण उसके हृदय को दग्ध कर रहा था।

सहसा कारागार की काली दीवारों को भेदती हुई एक करुण ध्वनि उसके कानों मे पडी। चित्रकार वीणा के स्वरों में अपने मनो-भावों को भरने की चेष्टा कर रहा था। वीणा के रोते हुए तार जैसे उसके हृदय की वेदना को प्रकट कर रहे थे। राजकुमारी के हृदय को कड़ी चोट लगी। उसका हृदय भी वीणा के तारो के साथ रो उठा। आँखो से आँसू की धारा बह चली। प्रेम से उसका हृदय चंचल हो उठा। वहा से उठ कर वह कारागार के द्वार पर पहुँची। राजकुमारी के सम्मान मे सन्तरी ने दरवाजा खोल दिया। क्षण भर बाद राज-कुमारी चित्रकार के सामने थी।

"चित्रकार!" राजकुमारी ने रुद्ध स्वर में कहा।

चौंक कर चित्रकार ने सिर उठाया। सामने स्नेह की मूर्ति राजकुमारी खडी थी। खिड़की के छिद्रो से छन कर आती हुई चॉदनी उसके अश्रुसिक्त मुखमण्डल पर पड रही थी। चित्रकार का हृदय प्रेम से उन्मत्त हो उठा। उसने कहा—"राजकुमारी! आह! आज तुम कितनी सुन्दर जान पडती हो!"

"प्रियतम··· ··"

पैरों पर गिरती हुई राजकुमारी को चित्रकार ने अपने आलिंगन-पाश मे आबद्ध कर लिया।

४

वही नदी का सूना तट है। वही सूनी कुटिया है। किन्तु आज वहॉ का दृश्य कुछ और ही है। आकाश से भगवान् राकापति प्रेम-सुधा की वर्षा कर रहे हैं। वसुधा प्रेम के शुभ्र धवल रग में रॅगी हुई है। नदी के जल में प्रेम हिलोरें ले रहा है। चित्रकार की सूनी कुटिया आज प्रेम का रग-स्थल बन रही है।

चित्र-शाला में टहलती हुई राजकुमारी सहसा एक चित्र के सामने ठहर गई। चित्रकार ने कहा—"प्रिये, यही तुम्हारा उस दिन वाला चित्र है।"

"जाने दो, प्रिय! वह राजकुमारी अब नही है। · ··मगर यह चित्र कैसा है? इस पर पर्दा क्यो पडा हुआ है?"

"प्रिये, यही तो मेरी 'मानस-प्रतिमा' है। आज तक मैं अपने हृदय मे इसी प्रतिमा की पूजा करता रहा हूँ।"

पर्दा हटा कर राजकुमारी ने चित्र को देखा। उसी का चित्र था। किन्तु उसके मुख पर अभिमान और उच्छृङ्खलता के वे भाव नहीं थे। आँखों मे करुणा की रेखा थी—होठो पर प्रेम भरी मुस्कराहट!

राजकुमारी ने स्नेह भरी दृष्टि से चित्रकार की ओर देखा और मुस्कराकर उसके हृदय मे अपना मुँह छिपा लिया।

स्नेह का संसार

१

"खेल खेल में यह तुमने क्या किया, बसन्त ?"

"क्यो ? क्या तुम्हे पसन्द न आया चन्द्रा ?"

"मेरे लिये तो यह जीवन का सब से ज़्यादा महत्वपूर्ण दिन है, बसन्त। लेकिन क्या तुम इसे याद रख सकोगे ?"

"यह प्रश्न तुमने क्यो किया, चन्द्रा ? क्या तुम्हे बसन्त पर विश्वास नहीं है ?"

"है, और उससे भी ज्यादा जितना कि अपने ऊपर। लेकिन, बसन्त, यह हमारा अल्हड़ बचपन ही तो है। बचपन मे हम लोग गुड्डे गुडियो का खेल भी तो खेलते हैं। लेकिन बडे होने पर या तो हम उसे भूल जाते हैं अथवा हमे अपने उस खेल पर हँसी आती है।"

"नहीं चन्द्रा, यह दिन मुझे हमेशा याद रहेगा। आज इस गुलाल ने हमे स्नेह के एक गुलाबी बन्धन में बाँध दिया है। यह बन्धन कभी ढीला न होने पावेगा, चन्द्रा।"

"इस एक दिन की स्मृति ही मेरे जीवन का आधार होगी, बसन्त।" चन्द्रा वहाँ से धीरे धीरे चली गई।

बसन्त एक सम्भ्रान्त कुल का लडका है। अवस्था अभी केवल सोलह ही वर्ष की है। माता पिता का लाड़ला है। बसन्त का लालन-पालन बडे ही अमीराना ढग से हुआ। किसी चीज का अभाव उसे आज तक नहीं मालूम हुआ। वह जभी जिस चीज के लिये मचला वह चीज उसे उसी समय मिली। स्वभावत. ही उसकी प्रकृति आराम-पसन्द हो गई। किन्तु समृद्धि और साधनो की इस प्रचुरता के बीच भी उसकी शिक्षा-दीक्षा की ओर से उदासीनता नही दिखाई गई। बसन्त के पिता ससार की प्रगति को पहचानने वाले जीव थे। उन्होंने इतना धन अपने परिश्रम और बुद्धि के बल पर कमाया था। वह यह नही चाहते थे कि उनका यह धन यो ही यौवन के उन्माद की गुलामी करे। वे बसन्त को पढा लिखा कर आदमी बना देना चाहते थे ताकि वह आगे चल कर ससार की गति को पहचाने और उनके इस सचित धन का सदुपयोग कर सके। बसन्त इस समय मैट्रिकुलेशन पास कर के इटरमीडियट क्लास मे पढ रहा था।

चन्द्रा भी बसन्त के ही समान एक कुलीन घराने की लड़की थी। किन्तु वह बसन्त के जैसी समृद्ध न थी। उसके पिता उसे बचपन में ही उसकी माँ के हाथो में सौंप कर स्वर्गवासी हो चुके थे। वे जो धन छोड़ गये थे उसी से चन्द्रा का लालन-पालन हुआ। चन्द्रा की माँ ने उसे अपनी जान किसी प्रकार दुखी न होने दिया किन्तु साथ ही साथ चन्द्रा को एक आदर्श बालिका बनाने की चेष्टा की। अभी

चन्द्रा केवल तेरह वर्ष की थी किन्तु इसी बीच वह घर के सभी कामों में निपुण हो गई थी। पाक-शास्त्र की तो वह पण्डित थी। सिलाई का काम भी जानती थी। कुछ लिख-पढ़ भी लेती थी।

बसन्त और चन्द्रा बचपन से ही एक साथ खेले खाये थे। चन्द्रा का घर भी बसन्त की कोठी के पास ही था। चन्द्रा के पिता और बसन्त के पिता मे दोस्ती थी। बसन्त उनके साथ कभी कभी चन्द्रा के घर जाया करता था। उस समय चन्द्रा बिल्कुल बच्ची थी। किन्तु यह घनिष्ठता बढती गई। चन्द्रा के पिता की मृत्यु के बाद भी बसन्त का आना जाना बना रहा। जब चन्द्रा कुछ बड़ी हुई तो बसन्त उसके साथ खेलता था—वही बचपन के खेल। चन्द्रा अपनी गुडिया के विवाह की तैयारी करती और बसन्त मिट्टी के खिलौने बनाता। बसन्त चन्द्रा की गुडिया चुरा लेता तो चन्द्रा उसके खिलौने तोड देती। और जब कभी चन्द्रा रूठ जाती तो बसन्त कितने प्रेम और स्नेह के साथ उसे मनाता था। चन्द्रा की माता इनके इस खेल को और आपस के स्नेह को देख कर निहाल हो जाती। यह जोडी कितनी सुन्दर थी। चन्द्रा की माता को विश्वास था कि बसन्त बडा होकर चन्द्रा को अपने चरणो मे स्थान देगा। वह एक प्रकार से चन्द्रा की ओर से निश्चिन्त थी।

आज होली का त्योहार था। होली सदा की भाँति अपनी उसी सजधज के साथ, अपने उसी गुलाबी नशे को लिये हुए, इठलाती हुई आई। लोग मस्त हो रहे थे। कही फाग गाये जा रहे थे, कही रग उछल रहे थे, कही भग छन रही थी। छोटे-बडे, बुड्ढे-जवान, औरत

बच्चे, सभी अपनी मान-मर्यादा को भूल कर होली का विचित्र स्वागत कर रहे थे। बसन्त भी आज सवेरे-सवेरे ही चन्द्रा के साथ होली खेलने गया था।

यो तो इनके छोटे से जीवन मे होली कितनी ही बार अपनी पुरानी शान के साथ आई थी और कितनी ही बार इन दोनो ने आपस मे होली खेली थी। शैतानी भी हुई थी, रूठे भी थे, मनावन भी हुआ था, प्रेम भरे वार्तालाप भी हुए थे। किन्तु इस बार की होली विचित्र थी। बसन्त अब, अनेको प्रकार के देशी और अँग्रेजी उपन्यासों को पढता था। उन उपन्यासो मे वर्णित प्रेम-वृत्तान्तो को पढकर उसके मन में एक प्रकार की आकाक्षा सी उत्पन्न होती थी। वह अब कैशोरा-वस्था को पार कर रहा था। ससार को कुछ कुछ समझने लगा था। किन्तु बचपन का प्रभाव बना हुआ था। इन सब बातो को वह खेल की ही दृष्टि से देखता था। उसके विचार से इन बातो का इससे ज्यादा महत्व नही था। आज उसने भी इसी प्रकार का एक खेल खेला। जब आपस मे खूब होली खेली जा चुकी तो बसन्त को एक शैतानी सूझी। उसने चन्द्रा को अपने भुज-पाश मे कस लिया और एक हाथ में एक चुटकी गुलाल लेकर चन्द्रा की माँग मे उसे भर दिया—उसी प्रकार जैसे दूल्हा दुलहिन की माँग मे सिन्दूर भर रहा हो। चन्द्रा अब केवल बालिका नहीं थी। वह सब समझती थी। वह अब बसन्त को भी केवल बचपन के साथी के ही रूप मे नही देखती थी। उसके हृदय मे एक अतृप्त आकाक्षा अपना घर बना रही थी—यही बचपन का साथी बसन्त उसके जीवन का साथी हो। आज का खेल एक ऐसा खेल था

जो इस दृष्टि से चन्द्रा के लिये कम महत्त्वपूर्ण न था। इसी लिये चन्द्रा ने बसन्त से बातों ही बातो में उपर्युक्त भाव प्रकट किया। चन्द्रा को डर था कि बसन्त और खेलों की भाँति ही कही इस खेल को भी न भूल जाय। किन्तु बसन्त ने उपन्यासों के नायकों की ही वीरता के साथ कहा—"चन्द्रा, मैं इस दिन को कभी भूल नही सकता। हमारे स्नेह का यह बन्धन कभी ढीला नही हो सकता।"

चन्द्रा ने इस दिन की स्मृति को अपने प्राणों में छिपाकर रक्खा। यह दिन उसके लिये जीवन का सब से सौभाग्यशाली दिन था।

२

धीरे धीरे तीन वर्ष का समय और बीत गया। चन्द्रा अब युवती थी। उसके मुख से लावण्य की आभा सी फूटी पडती थी। वह असाधारण रूपवती थी। यद्यपि अब वह घर से बाहर बहुत कम निकलती थी किन्तु बसन्त अब भी कभी कभी उसके यहाँ चला जाता था।

बसन्त अब पूर्ण युवक है। धनी युवकों का प्रायः जैसा स्वभाव होता है वैसा ही बसन्त का भी था। इन तीन वर्षों के अन्दर बसन्त के स्वभाव मे कितने ही परिवर्तन हुए। किन्तु समृद्धि सर्वदा उसकी सेवा मे उपस्थित रहती थी। पिता हमेशा उसके आराम का बहुत ज्यादा ख़याल रखते थे। नौकर चाकर सभी उसके रुख़ पर काम करते थे। इसलिये अन्त मे उसका स्वभाव वहीं जाकर टिका जहाँ प्रायः सभी धनी युवकों का टिकता है। उसके हृदय मे धन के अभिमान का अङ्कुर जम चला था। वह शासन करना चाहता था—शासित होना

नहीं। वह अब भी चन्द्रा के घर जाता था। उसे उस खेल की अब याद है कि नही यह तो नही कहा जा सकता किन्तु इस समय वह चन्द्रा के यहाँ दूसरे ही ख्याल से जाता है। वह अब चन्द्रा के रूप का लोभी है—लालसा की अग्नि अब उसके हृदय मे जल रही है। चन्द्रा शायद बसन्त के इस परिवर्तन को नहीं देख रही है। वह तो अब भी अपने को बसन्त की परिणीता पत्नी ही समझती है।

बसन्त ने इस साल बी० ए० की परीक्षा दी है। पिता की तो इच्छा थी कि अब वह घर बसाये और काम-काज की ओर ध्यान दे। वे स्वय वृद्ध हो चले थे। किस समय चल दे इसका ठिकाना नही था। इसी कारण अपने जीते जी ही वे बसन्त को बाल-बच्चेवाला और कामकाजी आदमी के रूप मे देखना चाहते थे। किन्तु बसन्त का दूसरा ही ख्याल था। वह बी० ए० पास करने के बाद विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करना चाहता था। उसकी इच्छा अभी विवाह करने की भी नही थी। वह करीब अँग्रेजी रग में रँगा जा चुका था। उसके विचार से विवाह के बन्धन मे बँधने की अपेक्षा स्वतन्त्र रह कर जीवन का आनन्द लूटना कही अच्छा था। उसके विवाह की कितनी ही बातें आती थीं किन्तु वह सबको इनकार कर देता था। उसके पिता का ख्याल था कि यह सब जवानी के नशे की बहक है। ये सब सूखे सिद्धान्त वक्त आने पर अपने आप टूट जायँगे। यही सोचकर वह भी ज्यादा दबाव नहीं डालते थे। चन्द्रा की माँ ने भी उससे कई बार कहा था—"भैया, अब अपना घर-बार बसाओ। मुझे भी इस चिन्ता से मुक्ति मिले। वह बेचारी इसी आशा पर जी रही थी कि एक दिन बसन्त चन्द्रा से विवाह

करके उसे इस महान् चिन्ता से मुक्त करेगा। बसन्त उससे भी यही कहता—"मैया, काहे घबराती हो। तीन ही वर्ष का तो वक्त है। अभी तो तुम ऐसी बूढ़ी भी नहीं हुई। अभी कितने ही वर्षों तक जीओगी। विलायत से आकर धूमधाम के साथ विवाह करूँगा। तुम्हारी चन्द्रा एक बैरिस्टर की पत्नी होगी—यह उसके लिये कितने गौरव की बात होगी।" भोली भाली चन्द्रा की माँ बसन्त की इन बातों पर मुग्ध हो जाती। लेकिन चन्द्रा अपने उस एक दिन की स्मृति मे ही मग्न थी। उसे इस बात का गम नहीं था कि बसन्त उससे विवाह करता है या नहीं। वह तो बसन्त की ही है और जीवन के अन्त तक उसी की रहेगी—बसन्त उसका खयाल करे या न करे।

आखिर वह दिन भी आ गया। बसन्त ने सम्मान के साथ बी० ए० की परीक्षा पास की और विलायत जाने की तैयारी करने लगा। उस दिन वह चन्द्रा के यहाँ गया। चन्द्रा की माँ ने कहा—"बेटा, चन्द्रा तुम्हारे ही आसरे पर है। उस पर सदा कृपा की दृष्टि रखना। उसे भूल न जाना।" चन्द्रा ने चलते चलते उससे कहा—"भूल तो न जाओगे, बसन्त?"

"नहीं चन्द्रा, तुम्हें क्या मैं भूल सकता हूँ!"

"चिट्ठी तो देते रहोगे न?"

"हाँ, चन्द्रा।"

बसन्त वहाँ से चला गया। चन्द्रा देर तक दरवाजे पर खडी रही—तब तक जब तक बसन्त की झलक उसे दिखाई देती रही। उसे ऐसा जान पड़ रहा था जैसे कोई उसका कलेजा निकाले लिये जाता हो।

३

बसन्त जब बिलायत पहुँचा तो वहाँ के रगढग देख कर वह चकित रह गया। वह एक स्वतन्त्र साम्राज्य मे था जहाँ कोई उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप करने वाला न था। वह एक आनन्द-मय प्रदेश मे था जहाँ का सिद्धान्त ही यह था कि जीवन के इस थोडे से समय मे जितना आनन्द लूट सको, लूट लो। हर जगह चहल-पहल, आनन्द और उल्लास की तरगे, विलासिता और आमोद-प्रमोद का प्रवाह था। इस जीवन के इच्छुक व्यक्तियों के लिये आकर्षण भी हर तरफ बिखरे पडे थे। सिनेमाघरो मे, पार्कों में, क्लबों मे, होटलो मे—हर जगह, हर कोने में सौन्दर्य का जाल, विलास का आकर्षण, आनन्द का अविरल कोलाहल था। बसन्त का अनुभव-हीन हृदय इस नवीन जीवन के आकर्षण मे फॅस गया। चिकनी मिट्टी पर पैर फिसलने लगा, किन्तु उसने सॅभलने की कोशिश न की।

कुछ दिनों तक तो उसे घर की याद आती रही। चन्द्रा की भी याद आती थी। थोडे दिनो तक उसने चन्द्रा को पत्र भी दिये। किन्तु धीरे धीरे यह क्रम ढीला पड़ता गया और अन्त मे उसने पत्र देना बन्द कर दिया। पिता के पत्रों का उत्तर थोड़े मे ही दे दिया करता। चन्द्रा उसके इस व्यवहार से दुखी थी किन्तु उसका कोई वश न था। वह अपनी ओर से बीच-बीच मे पत्र डाल दिया करती थी। बसन्त उन पत्रों को पढता और कूडे की टोकरी मे फेक देता। उसके लिए अब इन पत्रो में कोई आकर्षण न था। एक दिन उसे चन्द्रा का पत्र

मिला कि उसकी माता का स्वर्गवास हो गया। अब वह इस विशाल विश्व में अकेली थी। उसे अब केवल बसन्त का ही आधार था। बसन्त ने इस पत्र को भी पढ कर फेंक दिया—कुछ उत्तर न दिया। सहानुभूति के दो शब्द भी न लिखे। उसे अब चन्द्रा की क्या परवाह। उसके आगे सौन्दर्य का संसार बिखरा पडा था जिसका वह स्वतन्त्रता-पूर्वक उपभोग कर सकता था। चन्द्रा—अभागिनी चन्द्रा कलेजा मसोस कर रह गई।

किन्तु जीवन का यह कम स्थिर न रह सका। कुछ दिनों तक अबाध गति से इस जीवन का आनन्द लेने के बाद बसन्त का मन शिथिल होने लगा। भारतीय सस्कृति जो उसके रक्त मे रमी हुई थी कुछ समय तक सुप्त सी रह कर फिर जागृत होने लगी। उस जीवन मे एक कमी सी मालूम होने लगी—वह कमी जिसकी पूर्ति एक दक्ष गृहिणी ही कर सकती थी। उसे एक ऐसे साथी की आवश्यकता थी जो उसके सुख-दुख का साथी हो सके—जो उसके आनन्द में आनन्द, उल्लास मे उल्लास और दुःख मे शोक का अनुभव कर सके। स्वतन्त्र जीवन का अनुभव उसी देश वाले करें जिनके लिये चरित्र का कोई मूल्य नहीं—जिनके लिये विवाह एक खेल है। वह तो एक भारतीय युवक था। उसे किसी प्रेयसी की नहीं, जीवन-सगिनी की आवश्यकता थी। उसका भटका हुआ दिल प्रकाश के लिये छटपटाने लगा।

फिर अब बसन्त क्या करे? किसे अपनी जीवन-सगिनी बनावे? भारत मे चन्द्रा थी, और भी कितनी ही बालिकाये थी। किन्तु बनावट की चकाचौध अभी आँखों से दूर नहीं हुई थी। भारत की सरला

बालिकाओं की अल्हड वेश-भूषा एव उनके सादगी और भोलेपन से भरे हुए व्यवहार से उसे नफरत थी। इसी से उसका विचार था कि वह किसी हिन्दुस्तानी लडकी से शादी करके अपने जीवन को सकट मे न डालेगा। वहीं की किसी मिस से विवाह करेगा। और फिर उसमे हर्ज ही क्या है। आज कितने ही भारतीय इन अग्रेज युवतियों से शादी करते हैं और क्या वे सुखी नहीं हैं? ज्यादा से ज्यादा यही न होगा कि पिता नाराज होंगे, माता कुछ दिनों तक बोलेगी नहीं। किन्तु यह कोई बात नहीं। उन्हें प्रसन्न करना कोई मुश्किल बात न होगी। जहाँ उसकी बैरिस्टरी चल निकली वहाँ फिर सब हमेशा उसके मुँह की ओर देखेंगे। हाँ, रहना अवश्य अलग पडेगा। क्योंकि अभी भारतीय समाज इतना अग्रसर नहीं हुआ है कि वह एक अग्रेज महिला का उसमे रहना बरदाश्त कर सके। लेकिन इसकी कोई बात नहीं। इतनी सी बात तो करनी ही पडेगी। अवश्य वह जीवन का सम्पूर्ण आनन्द उठाने के लिये एक अग्रेज युवती से ही विवाह करेगा। विवाह किये पीछे लोग चीखा करें—क्या होता है। लेकिन कौन अग्रेज युवती उसके साथ भारत जाने को तैयार होगी? बसन्त जरा सोच मे पड गया। और चन्द्रा—उसका क्या होगा? उँह! उसने दुनिया भर का ठेका थोडे ही ले रखा है।

एक दिन बसन्त लन्दन के प्रसिद्ध हाइड पार्क मे टहल रहा था। जिधर वह टहल रहा था उधर कुछ सुनसान था। सहसा उसने देखा कि एक अत्यन्त सुन्दरी युवती उसकी बगल से निकल गई। उससे दो चार कदम आगे जा कर उसके हाथ का रेशमी रूमाल

जमीन पर गिर पड़ा। फिर भी वह इस प्रकार आगे चली जा रही थी जैसे उसे रूमाल गिरने की कोई खबर ही न हो। सभ्यता के नाते बसन्त को रूमाल उस युवती को देने के लिये जाना ही पडा। और वह उसके पास किसी बहाने जाना भी चाहता था। उस युवती के सौन्दर्य की एक झलक मात्र से ही उसका हृदय चचल हो उठा था।

उसने आगे बढ कर उस युवती से कहा—"क्या यह रूमाल आप का है, मिस ?"

युवती ने देखा—बसन्त रूमाल लिये उसकी ओर आ रहा है। "ओह! थैंक यू, मिस्टर" कहते हुए उसने रूमाल ले लिया और चल दी। दो चार कदम आगे जाकर उसने घूम कर देखा—बसन्त वहीं पर खडा स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था। उसने लौट कर कहा—"क्या मैं आप का नाम जान सकती हूँ, मिस्टर ?'

"क्यों नहीं ? मेरा नाम बसन्त है, और आप का मिस ?"

"रोज !" युवती ने मुस्करा कर बसन्त की ओर देखा।

"रोज़ ! कितना प्यारा नाम है! आपके योग्य ही।"

"धन्यवाद! आप तो भारतीय मालूम होते हैं, मि० बसन्त। यहाँ पर आप कहाँ रहते हैं ?"

"इनर टेपुल (Inner Temple) मिस रोज।"

"ओ! आप बैरिस्टरी पढ रहे हैं। यह तो अच्छा है। मैंने सुन रखा था, मि० बसन्त, कि भारतीय युवक बडे सभ्य होते हैं और आज मुझे सचमुच आप जैसे सज्जन युवक से मिल कर प्रसन्नता हुई।"

"धन्यवाद, मिस रोज। क्या मैं आशा करूँ कि हमारी यह मुलाकात आखिरी मुलाकात न होगी?"

"नहीं, नहीं, मि० बसन्त। मैं अक्सर इधर आया करती हूँ। कल शाम को सात बजे मुझसे यहीं भेंट हो सकेगी।"

और धीरे धीरे यह परिचय घनिष्ठ होता गया। यह घनिष्ठता समय पाकर प्रेम का रूप पकड़ने लगी।

४

बसन्त के प्रवास का समय अब खतम हो रहा था। उसे केवल दो तीन महीने और लन्दन मे रहना था। एक दिन रोज ने कहा—"क्यों बसन्त, अब तो तुम बहुत जल्द भारत लौट जाओगे। फिर मैं तुम्हारे बिना यहाँ क्या करूँगी।"

बसन्त ने मजाक किया—"क्यों, रोज? मेरे सिवा और भी तो बहुत से लोग यहाँ पर हैं।"

"तुम कितने नटखट हो, बसन्त! क्या तुम नहीं जानते कि मैं तुमसे कितना प्रेम करती हूँ?"

"यह तो मैं जानता हूँ, रोज। लेकिन, तुम्हीं कहो, मैं क्या करूँ?" एक सर्द आह के साथ बसन्त ने कहा।

"क्यों? क्या ही अच्छा होता कि हम दोनों शादी कर लेते। मैं तुम्हारे साथ भारत चलती। ओह! मेरी भारत देखने की कितनी प्रबल इच्छा है!"

"लेकिन, रोज, तुम अंग्रेज हो और मै हिन्दुस्तानी • • •"

यह बात तो तुम कितनी ही बार कह चुके हो। लेकिन क्या अंग्रेज और हिन्दुस्तानी मे सम्बन्ध नहीं होता? आज कल तो कितने ही भारतीय अंग्रेज युवतियों से विवाह करते हैं।"

"रोज, इच्छा तो मेरी भी यही थी कि हम दोनों का विवाह हो जाय। ·····लेकिन मैंने अक्सर सुना है, रोज, कि अंग्रेज युवतियों का प्रेम स्थिर नहीं होता। वे वफादारी नहीं जानती। उनके साथ भारतीयो का जीवन सुखमय नहीं होता।"

"ओ, मैं नहीं जानती थी कि आपके ऐसे खयालात हैं।······ लेकिन चलते समय मैं यह कह देना चाहती हूँ, मि० बसन्त, कि पाचों उगलियाँ बराबर नही होतीं। अंग्रेज युवतियों का प्रेम अक्सर चञ्चल होता है—इस बात को मैं अस्वीकार नहीं कर सकती। किन्तु सभी ऐसी नहीं होतीं। गुण और दोष सभी जगह होते हैं। मुझे अगर मौका मिलता तो मैं अपनी वफादारी का कुछ नमूना दिखाती।····· अच्छा, विदा!"

"ठहरो-ठहरो, रोज। मुझे इस विषय मे कुछ सोचने का मौका दो।"

"·· ··बसन्त, तुम कितने निष्ठुर हो। इतने दिन के साथ पर भी तुम मुझे न पहचान सके।"

और आखिर एक देहाती गिर्जे मे दोनों का विवाह हो गया। रोज इस विवाह से बहुत खुश थी। बसन्त भी खुश था किन्तु उसे भविष्य की चिन्ता सता रही थी।

बसन्त बैरिस्टरी की परीक्षा मे पास हो गया। अब उसे शीघ्र ही भारत चला जाना होगा। परीक्षा पास करने के बाद उसकी इच्छा थी कि कुछ दिन यूरोप के अन्य देशों का भ्रमण करे। किन्तु सहसा उसे अपने पिता की बीमारी का तार मिला। उसे तुरन्त भारत के लिये रवाना होना पडा। रोज प्रसन्न चित्त से बसन्त के साथ भारत जा रही थी।

५

बसन्त को पिता के अन्तिम दर्शन नसीब न हुए। इसका उसे दुख तो अवश्य हुआ किन्तु साथ ही साथ उसके हृदय पर से एक बड़ा बोझ हट गया। उसे सब से ज्यादा डर अपने पिता का ही था।

बिरादरी मे चारों ओर हल्ला मच गया कि बसन्त अपने साथ एक मेम लाया है। जब वह अपनी माँ के पास गया तो माँ ने उसे अपने पैर नही छूने दिये। पिता के क्रिया-कर्म मे भी वह कोई भाग न ले सका। उसे एक अलग मकान मे रहना पड़ा—खाना पीना सब अलग। बसन्त को क्रोध आ रहा था किन्तु जनमत के आगे उसका कोई जोर न था।

चन्द्रा की माँ ने मरते समय चन्द्रा का हाथ बसन्त की माँ के हाथ मे पकडा दिया था। बसन्त की माँ चन्द्रा पर अपनी ही पुत्री के समान स्नेह करती थी। उसे चन्द्रा और बसन्त के उस होली वाले खेल का भी पता लग गया था। वह तो चन्द्रा को ही अपनी बहू मानती थी। यों उसके विचार बहुत उदार थे। बसन्त मेम से शादी

करता है या किसी और से—इसकी उसे परवाह न थी। उसके ख़याल मे प्रेम हृदय की वस्तु थी और प्रेम मे देशी या विलायती, ऊँच या नीच का विचार न था। किन्तु उसका यही कहना था कि बसन्त चन्द्रा को किस अपराध की सजा दे रहा है। समाज के समक्ष चन्द्रा और बसन्त का विवाह न हुआ था तो क्या हुआ। बसन्त ने तो चन्द्रा को अपनाया था। चन्द्रा ने तो बसन्त को अपना दिल दिया था। एक भारतीय नारी के लिये इससे ज्यादा और किसी सौभाग्य के चिह्न की क्या आवश्यकता थी कि उसका प्रेमी अपने हाथ से उसकी माँग मे सिन्दूर डाले। फिर बसन्त क्यों चन्द्रा को न अपना कर किसी अन्य से शादी कर रहा है?

इन दिनों चन्द्रा ज्यादातर बसन्त की माँ के पास ही रहती थी। उसने जब यह सुना तो उसका दिल बैठ गया। अभी तक उसे सन्तोष था। उसे विश्वास था कि कभी न कभी उसका बसन्त अवश्य उसे अपनायेगा। किन्तु अब उसके धैर्य का बाँध टूट गया। तो क्या वह परित्यक्ता है! चन्द्रा अपने होश मे न थी। जिस मनोहर अवलम्बन पर उसने जीवन का सारा भार डाल दिया था वह इतना निर्बल निकला! अब उसका क्या होगा? बसन्त के बिना उसका जीवन किस काम का? होली का वह खेल निरन्तर उसकी स्मृति के सामने था। लेकिन बसन्त आखिर उसे भूल ही गया। पुरुषो के प्रेम का क्या यही अन्त है!... ...लेकिन इससे क्या? वह एक बार बसन्त को अपना हृदय दे चुकी है। एक भारतीय नारी का यही सौभाग्य है। बसन्त का वह पिछला प्रेम आज भी अपनी उज्वल आभा के

साथ उसकी माँग मे चमक रहा है। यही उसका सधवापन है! चन्द्रा उस एक दिन की स्मृति में ही जीवन के इन शेष तपस्यामय दिनो को बिता देगी। लेकिन……लेकिन वह एक बार बसन्त के मुँह से इसी बात को सुन लेना चाहती थी।

अन्धेरा हो चुका था। चन्द्रा चुपके से बसन्त के घर जा रही थी। बसन्त रोज के साथ अपने कमरे मे बैठा हुआ था। बातचीत हो रही थी। बीच-बीच मे हँसी की मधुर ध्वनि भी सुनाई पड जाती थी। सहसा लैम्प के मन्द प्रकाश मे दीवाल पर एक काली छाया देख कर बसन्त चौंक पडा। उसने दरवाजे की ओर देख कर पूछा—"कौन है?"

"मैं हूँ, बसन्त, चन्द्रा।"

"चन्द्रा! चन्द्रा, तुम यहाँ कैसे? सारे जमाने ने मुझे छोड़ दिया। फिर तुम यहाँ क्या करने आई?"

"सारा जमाना तुम्हे छोड दे लेकिन मैं तो तुम्हे नहीं छोड सकती, बसन्त।"

"ऐसा क्यों, चन्द्रा?"

"तुम मुझसे पूछते हो—ऐसा क्यो। बसन्त, क्या तुम भूल गये उस दिन को, अपनी उन प्यार भरी बातो को, अपनी उस प्रतिज्ञा को।"

"चन्द्रा, वह लडकपन का खेल मात्र था। उन बातों पर भरोसा करना मैं पागलपन समझता हूँ। उन बातो को भूल जाओ, चन्द्रा।"

"बसन्त, तुम पुरुष हो। मैं नारी हूँ। पुरुष जिन बातों को आसानी के साथ भूल सकता है वही स्त्री के जीवन का सबसे बड़ा

खज़ाना होती हैं ! मेरा जीवन तो तुम्हारा ही है। वह दूसरे का कैसे हो सकता है, बसन्त ?"

"तो मैं क्या करूं, चन्द्रा ?" बसन्त ने बिगड़ कर कहा। "तुम्हारे लिये मैं अपने सुख को तो नहीं बर्बाद कर सकता। तुमने जैसे इतने दिन बिताये वैसे ही और भी बिताओ। न बिता सको तो जैसा मन में आवे, करो। मैं कुछ कहने थोडे ही जाता हूँ। लेकिन मेरी शान्ति को भग न करो, चन्द्रा। यहाँ से जाओ।"

चन्द्रा ने आँसू बरसाते हुए कहा—"अच्छा, मेरे स्वामी, मैं जा रही हूँ। मैं यह कभी नहीं कहती कि तुम मेरे लिये अपने सुख को बर्बाद करो। मैं तुम्हारी शान्ति भग करना नहीं चाहती। तुम प्रसन्न रहो—सुखी रहो—इसी में मुझे सुख है। मैं तो केवल अपने विषय में तुम्हारी आज्ञा चाहती थी और मुझे वह मिल गई। अब मैं जाती हूँ। मैं तुम्हें भूल नहीं सकती, बसन्त, और न मैं उन दिनो को ही भूल सकती हूँ। नारी का हृदय एक ही होता है और वह किसी एक ही को दिया जा सकता है। समझूँगी कि जीवन मे सुख के दिन केवल दो ही चार थे। उनकी स्मृति में ही मेरे जीवन की विस्मृति होगी।" चन्द्रा धीरे धीरे वहाँ से चली गई।

रोज चुपचाप सब सुन रही थी। उसकी समझ में नही आ रहा था कि यह सब क्या बात है। चन्द्रा के जाने के बाद उसने बसन्त से पूछा—क्यो बसन्त, यह कौन थी और क्या चाहती थी ?"

"कुछ नहीं, रोज। वह एक पागल लड़की है। लडकपन के खेल पर इसने अपने जीवन का महल खड़ा कर लिया था और अब उस

महल को टूटते देख कर उसे अफसोस हो रहा है।" उसने सब बाते शुरू से आखिर तक रोज को कह सुनाई ।

बसन्त को आशा थी कि रोज इन बातो को सुन कर बहुत खुश होगी और हॅसेगी। लेकिन वैसा नही हुआ। रोज कुछ देर तक चुपचाप बैठी रही जैसे वह किसी गम्भीर चिन्ता मे निमग्न हो। फिर उसने ठडी सॉस लेकर कहा—'मैं नही जानती थी कि तुम इतने निष्ठुर हो सकते हो, बसन्त !"

"क्यों, क्या हुआ, रोज ? क्या मैंने तुम्हे कोई तकलीफ पहुॅचाई है ?"

"मुझे नही पहुॅचाई है, बसन्त। लेकिन उसे पहुॅचा रहे हो जिसे तुम्हारे अतिरिक्त और कोई आधार नही है।"

"ओह ! तुम भी किस पचडे मे पड गई, रोज। छोड़ो इन बातों को। यह महज पागलपन है, और कुछ नही।"

"बसन्त, एक नारी के हृदय को नारी ही समझ सकती है—तुम्हारे जैसे बेदर्द पुरुष नही। प्रेमी द्वारा ठुकराये जाने पर एक कोमल हृदय वाली स्त्री की क्या हालत होती है, इसे मैं अच्छी तरह समझ सकती हूॅ। और मैं आज कहे देती हूॅ, बसन्त, कि उसकी आत्मा को सता कर तुम चैन नहीं पा सकते।"

६

धीरे धीरे समय बीत रहा था। इधर कुछ दिनों से बसन्त रोज के व्यवहार में एक परिवर्तन देख रहा था। रोज अब बसन्त के साथ

रुखाई से पेश आने लगी थी—जैसे उसके हृदय मे बसन्त के प्रति पहले जैसा प्रेम न रह गया हो। अब वह सबेरे शाम बाहर ज्यादा जाने लगी थी। लौटती भी देर से थी। घर रहती उस समय भी कुछ खिन्न सी रहती थी। बसन्त के साथ उस प्रेम से न बोलती थी—खिंची खिंची सी रहती थी।

बसन्त ने उसके इस परिवर्तन को देखा। उसे दुख भी हुआ। रोज के सहसा इस परिवर्तन का कारण क्या है—कुछ समझ नही सका। रोज पहले तो उससे बडा स्निग्ध व्यवहार करती थी। फिर उसे अचानक क्या हो गया? सबसे ज़्यादा उसके हृदय मे एक सन्देह घर कर रहा था। अंग्रेज युवतियों का मन प्रायः चचल होता है। कहीं रोज किसी और के प्रेम मे तो नहीं फॅस गई। बसन्त के हृदय में हलचल मच रही थी। फिर भी वह कुछ दिन तक सब्र के साथ हृदय के आवेग को दबाये हुए रोज की गति विधि को देखता रहा। रोज उसकी ओर से दिन पर दिन और ज्यादा उदासीन होती जा रही थी। अन्त में बसन्त से नही रहा गया।

एक दिन जब रोज रात मे देर से लौट कर आई तो उसने देखा कि बसन्त अधीर सा बरामदे मे इधर उधर चक्कर लगा रहा है। उसने और भी देखा कि बसन्त के चेहरे पर क्रोध की आभा झलक रही है। किन्तु उसने इसकी परवाह न की—चुपचाप एक बगल से अपने कमरे में चली गई। बसन्त भी उसके पीछे पीछे कमरे में गया। उसका हृदय उबाल खा रहा था। उसने गम्भीर स्वर में कहा—"यह सब क्या हो रहा है, रोज?"

"कहाँ क्या हो रहा है, बसन्त ? मैं तो कुछ नही देख रही हूँ।"

"तुम कैसे देखोगी ? मैं कैसे कहूँ, रोज, कि कुछ नहीं हो रहा है। मैं देख रहा हूँ कि तुम आज कल मुझसे खिची सी रहती हो। मेरे प्रति तुम्हारा वह पहले का सा स्वाभाविक स्नेह नही रह गया है। तुम मुझसे उसी प्रेम के साथ नहीं बोलती हो। मैं इसे क्या समझूँ रोज ?"

"तुम्हे भ्रम हो गया है, बसन्त। मुझमे तो कोई ऐसा परिवर्तन नही हुआ है जिसकी तुम शिकायत कर सको।"

"भ्रम ! अच्छा होता रोज, कि यह मेरा भ्रम ही होता। किन्तु जिस बात को मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ उसे भ्रम कैसे मान लूँ। तुम मुझसे बिना कहे बाहर चली जाती हो। न जाने कहाँ कहाँ जाती हो। इतनी देर से लौटती हो। क्या यही लौटने का वक्त है ? और लौट कर भी मुझसे न तो बोलना, न हँसी खुशी। क्या यह भी मेरा भ्रम है, रोज ?

"ओ, तो तुम मुझ पर सन्देह करने लग गये हो। यह मेरे प्रति तुम्हारा अन्याय है, बसन्त। तुम तो दिन दिन भर कोर्ट मे रहते हो। मैं अकेली यहाँ पड़ी रहती हूँ। न कोई बोलने वाला, न हँसने वाला। पडे-पडे मेरी तबियत ऊब जाती है। खुले वातावरण मे रहने की अभ्यस्त अग्रेज युवती इस बन्धन मे किस प्रकार जीवन बिता सकती है ! जब तबियत ऊबती है तो मित्रो से मिलने चली जाती हूँ। कुछ देर हँस बोल कर मन बहला लेती हूँ। क्या तुम इतना भी नहीं देख सकते, बसन्त।"

"मैं तुम्हे मित्रों से मिलने के लिये मना नहीं करता, रोज।" बसन्त अत्यधिक गम्भीर हो रहा था। उसके हृदय की हलचल उसके चेहरे पर स्पष्ट हो रही थी। "मगर मैं तुमसे यह पूछता हूँ—क्या मित्रों से मिलने का यही ढग है? क्या मित्रों से मिलने का यही वक्त है? क्या मेरे प्रति तुम्हारा कुछ कर्त्तव्य नहीं है? मित्रों से मिलने के यह मतलब नहीं हैं कि तुम मुझे भूल जाओ, मेरी उपेक्षा करो, मेरे हृदय को कष्ट दो।"

"ओह! बसन्त, बसन्त, तुम कितनी निष्ठुरता से बात कर रहे हो! क्या तुम मेरी थोडी सी स्वतत्रता भी नहीं सहन कर सकते?"

"स्वतन्त्रता! यह कैसी स्वतन्त्रता जो गृहस्थी के आनन्द को नष्ट कर दे! तुम्हारी इस स्वतत्रता ने मेरे हृदय मे अशान्ति की आग जला दी है।......नहीं, रोज तुम्हे वैसे ही रहना होगा जैसे मैं कहूँ। तुम्हे मेरे प्रति अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये—करना होगा। मैं तुम्हारे यह सब ढग पसन्द नहीं करता।"

इस बार रोज से भी न रहा गया। उसने कहा—"बसन्त, यह हमेशा याद रहे कि मैं अग्रेज हूँ—हिन्दुस्तानी नही। इस ग़ुलामी और बन्धन का जीवन कोई हिन्दुस्तानी स्त्री ही व्यतीत कर सकती है—मैं नहीं। यदि इतना अधिकार जमाना था तो क्यो नही किसी चन्द्रा जैसी लड़की से शादी की?"

"आह! रोज, यही तुम्हारा वह प्रेम है!......चन्द्रा, अभागिनी चन्द्रा, तुम्हारे लिये ही मैंने उसे त्यागा। आह! कितना प्रेम था

उसके हृदय में मेरे लिये ! आज यदि चन्द्रा होती तो क्या वह तुम्हारी ही तरह व्यवहार करती ?"

"तो क्यों नही अब भी जा कर चन्द्रा को ले आते ? वह आकर तुम्हारे हृदय की सारी जलन मिटा देती।" तिनक कर रोज ने कहा।

"रोज, रोज यह तुम क्या कह रही हो ? रोज, क्या तुम आज वही हो जो पहले थीं ?"

"मैं तो वही हूँ। तुम्हारी ही आँखों पर पर्दा पड़ गया है तो उसके लिये मैं क्या करूँ ?"

७

चन्द्रा, रूप और आडम्बर के मोह मे पड़ कर मैं तुम्हे भूल गया। किन्तु तुम मुझे न भूली। मैंने तुम्हारे प्रेम को ठुकराया किन्तु तुमने मेरे लिये जीवन के सुखो की परवाह न की। तुम अभी तक मेरे लिये अपने जीवन को कौमार्य की तपस्या मे तपा रही हो। आह ! तुम्हे—तुम्हारी आत्मा को सताने का ही यह फल है कि आज मेरी गृहस्थी उजाड़ हो रही है। मेरा हृदय अशान्त हो रहा है। चन्द्रा, हृदयेश्वरी चन्द्रा, तुम कहाँ हो, किस कोने में छिपी हो ?—बसन्त का हाल बहुत बुरा हो रहा था। जब वह बिलायत मे था तो उसका मन फैशन और आडम्बर की मोहकता में फँसा हुआ था। तब वह भारतीय नारियों को गँवार समझता था। उनका सामीप्य ही उसके लिये घृणाजनक था। इसी मोहकता के जाल में फँस कर उसने अंग्रेज युवती से शादी की थी। उस समय उसने यह न सोचा था कि उसका भविष्य ऐसा भी हो सकता है। आज रोज़ के व्यवहार ने

उसकी आँखे खोल दीं। आज उसे मालूम हुआ कि भारतीय नारियों मे और चाहे कुछ न हो किन्तु उनके हृदय में पति के प्रति अपार प्रेम होता है। वे पति के जीवन में ही अपने अस्तित्व को मिला देती हैं। आज इसी लिये बसन्त को चन्द्रा याद आ रही है। आह! चन्द्रा के हृदय में बसन्त के लिये कितना स्नेह था। किन्तु बसन्त ने उस स्नेह को किस बेरहमी के साथ ठुकराया। आज यदि चन्द्रा होती तो क्या उसका हृदय इस प्रकार अशान्त रह सकता था? चन्द्रा उसके आँसुओं को पोछ कर स्नेह की अक्षय निधि से उसके सूने हृदय को भर देती। उसका हृदय व्याकुल हो उठा। हृदय मे फिर पुराना प्रेम उमड पडा। वह चन्द्रा के घर गया। किन्तु घर खाली पड़ा था। चन्द्रा कहाँ गई—कहाँ जा सकती है! वह विक्षिप्त सा इधर उधर घूमने लगा।

किन्तु वह ज़्यादा देर तक इधर उधर न रह सका। उसका हृदय अत्यन्त अस्थिर हो रहा था। वह घर लौटा। घर आकर उसने जो दृश्य देखा उससे उसका क्रोध उबल पडा। उसने देखा—रोज के समीप ही एक अत्यन्त सुन्दर युवक बैठा हुआ है। रोज प्रेम के साथ हँस हँस कर उससे बाते कर रही है। बसन्त को आया देख कर वे दोनो ही स्तम्भित रह गये। बसन्त अब अपने क्रोध को न दबा सका। वह उछल कर रोज के सामने जा पहुँचा और क्रोध भरे स्वर मे पूछा—"यह कौन है, रोज?"

"ये मेरे एक मित्र हैं" रोज ने अपने स्वाभाविक स्वर में जवाब दिया।

"मित्र ! क्या इन्हीं मित्र के यहाँ आजकल आप जाया करती थी ?"

रोज ने रोषपूर्ण स्वर मे कहा—"तो इसमे इतना बिगडने की बात ही क्या है ? क्या मित्र के यहाँ जाना या उससे बाते करना पाप है ?"

"रोज", बसन्त ने भर्राये हुए स्वर मे कहा—"तुम्हे याद होगा, मैंने विवाह के पूर्व तुमसे क्या कहा था। तुमने उसका क्या उत्तर दिया था। क्या यही तुम्हारी वफादारी है, रोज ?"

"तुम कैसी बाते कर रहे हो, बसन्त ? मैं कहती हूँ कि मेरी वफ़ा-दारी में जरा सा भी फर्क नहीं पड़ा है।"

इतनी देर तक वह युवक चुपचाप खडा था। अब उसने कहा—"रोज मुझे जाने दो। इनकी तबियत कुछ खराब मालूम होती है।"

बसन्त उछल कर उसके सामने आ गया। वह क्रोध से पागल हो रहा था। उसने चिल्ला कर कहा—"ठहर जा, शैतान, जायगा, कहाँ ? तुम सब ने मुझे पागल समझ रक्खा है। तुम मेरी आँखो में धूल झोंकना चाहते हो। मैं यह बरदाश्त नही कर सकता। मैं आज सब का अन्त कर दूँगा। शैतान, मेरे घर मे आकर मेरे ही माल पर किस बेपरवाही के साथ हाथ साफ करना चाहता था। ठहर जा, मैं आज तेरा नशा उतार देता हूँ।" बसन्त ने युवक का गला पकड़ने के लिये हाथ बढाया। लेकिन क्रोध में उसका हाथ गले पर न पड़ कर पीछे की ओर सिर पर बँधे साफे के छोर पर पडा। रेशमी साफा सिर पर से सरक गया। बसन्त आश्चर्य-चकित हो दो कदम पीछे हट गया। सिर पर से साफा गिरते ही एक रूपवती रमणी के लम्बे लम्बे सुन्दर केशों का जाल युवक के कन्धे के चारों ओर बिखर

पड़ा। यह चन्द्रा ! ···· चन्द्रा इस रूप मे यहाँ कहाँ ! यह सब क्या बात है ! बसन्त बदहवास सा कुर्सी पर गिर पड़ा। रोज मुस्करा रही थी।

कुछ देर के बाद बसन्त को होश हुआ। उसने नीची निगाह किये हुए काँपते स्वर मे कहा—"चन्द्रा, मेरे जीवन की खोई हुई ज्योति, तू कहाँ थी ? आज मैं तुझे कितना ढूँढ रहा था।"

"तुम्हारे याद करते ही तो मैं तुम्हारे पास आ गई, मेरे स्वामी" चन्द्रा ने स्नेह भरे स्वर मे उत्तर दिया। उसकी आँखो मे आँसू भरे हुए थे।

"लेकिन चन्द्रा", बसन्त ने फिर कहा, "यह सब क्या बात थी ? तुम लोगो ने कौन सा जाल फैला रक्खा था ? मेरी समझ मे अभी तक कुछ नहीं आया।"

"नाथ, तुमने रोज पर व्यर्थ ही सन्देह किया। रोज ही की कृपा से आज मैंने तुम्हे खोकर फिर पाया है।"

इस बार रोज ने अश्रु-कम्पित स्वर मे कहा—"प्रियतम, मुझे इस बात का बहुत दुख है कि मेरे कारण तुम्हे इतने दिनो तक बहुत कष्ट हुआ। किन्तु मैं लाचार थी। इसके अतिरिक्त मेरे पास और कोई उपाय न था। मुझसे चन्द्रा का दुख न देखा गया। तुमने चन्द्रा का हक छीन कर मुझे दिया था। इससे ज्यादा वफादारी और क्या होगी, मेरे स्वामी, कि मैं अपना हक छोड़ कर चन्द्रा का हक उसे वापस दे रही हूँ।"

बसन्त बिह्वल सा हो रहा था। उसकी आँखो से आँसू बह रहे थे। उसने दुख भरे स्वर मे कहा—"रोज, मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है ·····"

बीच ही मे रोज ने कहा—"मैं जहाँ भी रहूँगी यही कामना करूँगी कि तुम दोनों का जीवन सुखी हो। तुम्हारे स्नेह के इस ससार को सुखमय होते देख कर ही मुझे शान्ति मिलेगी।····बिदा दो, मेरे प्यारे !" रोज की आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी।

लेकिन चन्द्रा लपक कर रोज से लिपट गई। उसने कहा—"तुम जा कहाँ रही हो, बहन ! मैं तुम्हे न जाने दूँगी। उन्होने मेरा अधिकार छीन कर तुम्हे दिया था किन्तु तुमने जो अधिकार उनसे पाया था उसे लेकर तुम्हे भिखारिनी बनाने का अधिकार मुझे नही है। आज इन्होने मेरा अधिकार मुझे वापस दिया है किन्तु तुमसे छीन कर नही। आज हम दोनो का ही समान अधिकार है। रोज, तुम मुझे अपनी बहन से भी अधिक प्रिय हो। तुम्हारे दिये मैंने स्वामी को पाया है। स्वामी का तुम्हारे प्रति अत्यन्त स्नेह है। क्या तुम्हारे जाने से उन्हे दुख नही होगा ? नही, रोज, हम दोनों ही अपने प्रियतम की सेवा करते हुए स्नेह के साथ अपने इस छोटे से ससार को सुखमय बनावेंगी। ·· कहो, बहन, अपने मुँह से 'हाँ' कह दो। देखो, इन्हे कितना कष्ट हो रहा है ! क्या तुम इनके कष्ट को देख सकती हो ?"

अबकी रोज रो पडी। वह बसन्त के चरणों से लिपट गई। बसन्त ने उसे हृदय से लगाते हुए कहा—"चन्द्रा, रोज, तुम दोनो ही मेरी दोनो आँखो की ज्योति हो। तुम दोनों के बिना मैं एक पल भी नही जी सकता। रोज, चलो, चन्द्रा, आओ; माता जी के चरण छू आवे। उन्हे हमारा यह मिलन देख कर कितना सुख होगा !"

मेरा दोस्त

हाँ, वह अच्छा आदमी नही था। या यों कहना चाहिये कि वह आदमी बुरा था। किसी कदर आप यहाँ तक कह सकते हैं कि वह बदमाश था। फिर भी वह मेरा दोस्त था। आप को आश्चर्य होगा। मुझे भी कभी कभी होता है। मैं नही जानता कि मैंने उससे क्यों मित्रता की। ऐसा भी हो सकता है कि उसने ही मुझे अपनी दोस्ती के फन्दे मे फँसा लिया हो। और भी ऐसी ही कई बाते हो सकती हैं। लेकिन मुझे इसकी चिन्ता नही। मैं जो सोचता हूँ वह यह है कि आज जब जीवन की चिलचिलाती हुई धूप धीरे धीरे मुरझाती जा रही है वह मेरे पास इस बूढ़े की झुकी हुई कमर को सहारा देने के लिये मौजूद होता और इन नीरस सूनी घडियों को अपनी उन्मत्त हँसी से आनन्दमय बना देता।

लेकिन क्या ऐसा भी कोई है जो एक बूढ़े की समस्यापूर्ण इच्छाओं को सन्तोष दे सके ? नही। उन दुख भरी स्मृतियो के बीच में सिर्फ

तडप भर सकता हूँ—सान्त्वना का अधिकारी भी नही क्योंकि वह अच्छा आदमी न · ··।

वह धोखेबाज था, स्वार्थी था और शायद चोर भी। उसने मुझे भी धोखा दिया लेकिन उस समय हम बच्चे थे। मैं आपको यह न बताऊँगा कि उसने किस प्रकार मुझे धोखा दिया। उसने मुझे धोखा दिया—बस इतना ही कहना काफी होगा। लेकिन यह उस वक्त की बात है जब हम लोग दोस्त नही थे।

हम लोग एक ही दर्जे मे पढते थे फिर भी हम लोग दोस्ती के नाम से बहुत दूर थे। उन दिनो लोग मुझे अच्छा लडका समझते थे और बुराई मे उसकी तुलना मेरी अच्छाई से किया करते थे। मेरे दोस्त लोग मुझे उसका साथ करने से रोका करते थे इसलिये शायद मैं उससे घृणा भी करने लगा था। उसके भाव भी मेरी ओर से अच्छे नहीं थे। दिन पर दिन बीतने लगे। उस वक्त हम लोग आठवें दर्जे में पढते थे।

वर्षों तक हम लोगो को साथ साथ रहने का मौका मिला था। यद्यपि मैं उससे नफरत करता था लेकिन इस बात का मुझे पता न था कि प्रकृति ने हृदय पर कैसा प्रभाव डाला है। जो भी हो—आपको सुन कर आश्चर्य होगा कि आठवाँ दर्जा छोडने के पहले हम दोनो दोस्त बन चुके थे। मैं तो नवे दर्जे में चला गया, और वह—कह नही सकता। दर्जे मे तो वह आया नही। दुनिया के किस दर्जे में सबक सीखने को वह गया यह मैं न जान सका।

आप पूछेंगे कि मैंने ऐसे लडके से मित्रता करने की बेवकूफी क्यों की? क्या वह पहले से कुछ सुधर गया था? नहीं। फिर क्यों?

मैंने ऐसा क्यों किया? मैंने स्वय अपने हृदय से बार बार यह प्रश्न पूछा है। कोई जवाब न मिल सका। आखिर मैंने ऐसा किया ही क्यों? ऐसा जान पडता था कि उन दिनो वह मुझे अच्छी नजरों से देखने लग गया था। यद्यपि उसने कभी भी मेरी प्रशसा न की लेकिन कुछ परिवर्तन उसमे अवश्य हुआ था। मैंने इस बात की ओर कुछ ध्यान नही दिया लेकिन एक दिन जब कि वह सचमुच मेरे पास एक मित्र की भाँति आया तो मुझे स्वय आश्चर्य हुआ कि मैं अपने हृदय के द्वार को उसके लिये बन्द न कर सका। इस तरह हम दोस्त बने।

बहुतों ने नाक-भौंह सिकोडी—बहुत से लोग मुस्करा कर रह गये—कुछ लोगो ने आवाजे कसीं और जो खास लोग थे उन्होंने आदेश और उपदेश देने का प्रयत्न भी किया। यह सब हुआ लेकिन मैं किसी की भी न सुन सका। "लडका गया"—यही सब की जबान पर था। मैंने भी सुना। मेरे हृदय मे टीस हुई। फिर भी मैं उसके साथ सखती न कर सका। आप शायद मुझ पर हँसेगे, किन्तु ·· दिल ही तो है!

हाँ वह पहले से अच्छा तो था ही नही। उसी तरह शैतानियत से भरा हुआ और स्वार्थी। एकाध गुण अगर उसमे थे भी तो किस गिनती में।

× × ×

नौ महीने तक आठवे दर्जे मे पढ़ने के बाद उसने स्कूल छोड दिया। पढना उसे परेशानी से भरा हुआ जान पडने लगा। लेकिन उसके पिता जरा दुनियाबी और कडे आदमी थे। उनकी आमदनी उस वक्त अच्छी थी। फिर भी उन्होंने उसे घर से निकाल दिया। शायद उनके घर में आवारागर्दी के लिये जगह न थी। पन्द्रह वर्ष के युवक ने जबान से एक शब्द भी नही कहा। चुपचाप घर से बाहर चला गया—दुनिया के बिखरे हुए मैदान मे अपने लिये थोडी सी जगह की तलाश मे। उसके माथे में बल भी न पडे—शिकायत मे जबान भी न खुली। उसके दिल मे इन सब बातो के लिये जगह न थी। • •उसके माँ न थी!

उसके पिता के लिये कुछ कहना मुझे उचित नहीं है। लेकिन क्या यह पिता के योग्य था? अभी उसकी उम्र ही क्या थी—महज बच्चा! अपना चालचलन सुधारने के लिये उसके सामने अभी कितने ही दिन थे। शायद वह अपने को सुधारता भी। और अगर उसने बुढ़ापे मे अपने पिता को सहारा देने से इनकार कर दिया तो इसके लिये मैं उसे अपराधी न समझूँगा।

दुनिया सिर्फ सैर करने की जगह नहीं है। इस पर भी एक बच्चा जिसे उसके पिता ने जीवन-सग्राम मे युद्ध करने के लिये निराधार छोड दिया हो। संसार मे सभी व्यक्तियों को कुछ न कुछ आपदाओं का सामना करना पड़ता है—उसे भी सब कुछ सहना पड़ा।

कुछ दिनों तक तो वह काम की तलाश मे दिन दिन भर इधर से उधर मारा मारा फिरा किया। लेकिन बेकार। और ऐसे लडके को काम मिलना भी तो मुश्किल है। "परेशानी से भरा हुआ काम। ओह! कौन माथा खपावे"—और वह किसी पेड़ की ठडी छाया में आराम से लेट जाता। छोटे छोटे बच्चे उसे चारों ओर से घेर लेते। दोपहरी गुलजार हो जाती। शायद उनके हृदय में दुनिया के छल-छन्दों के लिये जगह न थी।

कई कई दिन तक उसे भूखा रह जाना पड़ा। तकलीफ मे रह कर उसकी चालाकी और शैतानियत और ज्यादा बढ़ गई।

अन्त मे उसे एक दूकान मे जगह मिल गई। काम अच्छा नही था। मेहनत भी अधिक करनी पड़ती थी। फिर भी वह किसी तरह निभाता चला गया। और पाँच साल बाद जब वह सहसा मेरे आगे आकर खडा हो गया तो मैंने देखा कि वह पहले से बहुत आराम मे था।

इस समय तक उसके पिता का हृदय पिघल चुका था। उन का क्रोध शान्त हो गया था—साथ ही साथ उनके हृदय मे अपने एक मात्र पुत्र के लिये एक विचित्र स्नेह का सचार हुआ। उन्होने उसे घर वापस बुलाया लेकिन वह नही गया। अन्त मे वे स्वय भी उसके पास आये लेकिन वह नहीं ही गया। बेचारे रोते रोते वापस गये। मैंने भी उसे घर लौट जाने के लिये समझाया लेकिन उसने कुछ न सुनी। "पिता!—हाँ, हो सकता है। मेरे लिये तो वे पिता न हुए। एक स्वार्थी जिसने अपने असहाय बच्चे को बिना किसी सकोच के

घर से बाहर निकाल दिया। आज ममता दिखाने चले हैं! ऐसा उन्होंने मेरा क्या भला किया है जिसके लिये मैं उनका कृतज्ञ बनूँ ?" ऐसा कहते कहते उसकी जबान भारी हो चली।

"फिर भी व पिता हैं"—मैंने कहा।

"नहीं"—उसने दृढतापूर्वक उत्तर दिया।

एक शैतान लड़का—अपने बूढ़े असहाय बाप को बिना किसी सहारे के यों बेदर्दी के साथ छोड दिया! हाँ, आप जरूर ऐसा ही कहेंगे। वह जरूर शैतान था। लेकिन क्या पिता का पुत्र के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है ? एक पुत्र—पिता के दुर्व्यवहारो से पीडित—घर से निकाला हुआ—पिता के प्रति उसके और क्या भाव हो सकते हैं! ....मैं उसके सभी कामो के औचित्य को साबित करने का प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ। उसे अपने पिता की मदद करनी चाहिये थी। इसके बदले उसने जो कुछ किया वह पुत्र के उपयुक्त नहीं था। किन्तु जब मैं जीवन की स्थिति के लिये उसके करुणा और निराशा-पूर्ण प्रयत्नो की ओर दृष्टि डालता हूँ तो मुझे उसका कार्य निन्दनीय नहीं प्रतीत होता।

× × ×

उसमे सिर्फ इतनी ही बुराई न थी। वह झूठा था। मुझसे भी वह कई बार झूठ बोला। वह झगड़ालू भी था—बहुतो से अक्सर झगड़ा करता हुआ पाया जाता था। सबसे बड़ा ऐब उसमे यह था कि वह शराबी था। हाँ, हाँ, सच्ची बात है—मगर इससे क्या! सुन कर ताज्जुब न कीजिये। ऐसे लोग प्रायः ऐसे हुआ ही करते हैं।

मेरी आन्तरिक इच्छा थी कि वह ऐसा न होता किन्तु वह था। कोई चारा न था। मुझे उसका साथ निभाना ही पडता। आप पूछेंगे—क्यो नही तुमने ऐसे दोस्त का साथ छोड दिया। उचित तो मेरे लिये यही होता लेकिन मैं ऐसा कर न सका।

मैं ऐसा क्यो न कर सका। शायद मैं एक दुर्बल हृदय का मनुष्य था और शायद वह मेरे लिये एक सच्चा और महान् आत्मा था। आप हँसेगे लेकिन क्या यह उचित होगा? क्या एक शराबी कम से कम अपने मित्र के प्रति सच्चा नहीं हो सकता? हो सकता है और मेरा मित्र था। वह मेरे प्रति सच्चा था। वह शराबी शराब के लिये नहीं था। अपने हृदय के घावों पर पर्दा डालने के लिये उसे शराब पीनी पडती थी। इसी लिये मै उसे प्यार करता था।····· लेकिन, मैं आपके सामने सफाई क्यों पेश कर रहा हूँ? इसकी कोई जरूरत नहीं। आप मेरे विषय में क्या सोचते हैं इसकी मुझे परवा नही। मेरे सामने जो एक धुँधला सा प्रकाश था उसी का मैं अनुसरण कर रहा था और मुझे सन्तोष है कि मुझे उसके लिये कभी दुखी होने का अवसर न मिला।

हाँ, तो वह शराबी था और जबर्दस्त शराबी था। बहुत से लोग पीते हैं—कुछ आनन्द के लिये, कुछ स्वास्थ्य के लिये और कुछ इसलिये कि उन्हे पीना पड़ता है। पढने का उसे बहुत शौक था। वैद्य ने यद्यपि उसे मना कर दिया था फिर भी वह पढता था। यह नहीं कि वह वैद्य की बातो की अवहेलना करता था बल्कि वह इसलिये पढता था कि पढ़े बिना उससे रहा नही जाता। ऐसा ही कुछ उसके पीने के बारे मे था। ससार में बहुत से पापी पाप इसलिये करते हैं

कि पाप किये बिना वे रह ही नही सकते। जीवन मे कम से कम एक बार—उस समय जब कि पश्चात्ताप के आँसू उनके हृदय के कल्मष धोते रहते हैं—उनकी इच्छा होती है कि वे भले होते! वे चाहते हैं कि कम से कम एक क्षण के लिये भी वे स्वर्गीय आनन्द की अनुभूतियो में निमग्न हो सकते—दूसरे ही क्षण चाहे मृत्यु उन्हे ससार के मादक वातावरण से खीच ले जाय! लेकिन ऐसा नही हो सकता।

क्यों? शायद उनकी प्रकृति का निर्माण ही इसी ढग का होता है। वे अपनी आकाक्षाओ का दमन करने मे असमर्थ होते हैं। आह! मनुष्य इतना निर्बल होता है। उसका हृदय इतना मजबूत नहीं कि वह जीवन की प्रवचनाओ की उपेक्षा कर सके। कहीं यह शक्ति उसमे होती!

अपराधी आत्माओ को अपराध का दण्ड भोगना ही पडता है। मेरे मित्र को भी भोगना पडा।

इतना सब होने पर भी वह पीना न छोड सका। उसने छोडने का प्रयत्न किया। मैंने भी छुड़ाने की कोशिश की। लेकिन उसका पीना न छूट सका। मैं भी उसका मित्र बना रहा।

हाँ, तो मैं शायद उसके बारे में सब कुछ कह चुका हूँ। उसमें जीवन की और भी बहुत सी बुराइयाँ रही होगी—क्योकि ऐसे आदमियों में प्रायः वे पायी जाती हैं। फिर भी वह मेरा अभिन्नतम मित्र था। उसका अभाव मुझे बहुत खलता है। मैं उसे अभी भी प्यार करता हूँ और भूलूँगा शायद उसी वक्त जब मैं दुनिया की और सभी बातो को भूलता होऊँगा।

× × ×

मैं आप को यह बतला चुका हूँ कि वह मुझे क्योंकर मिला। यह भी मैं काफी तौर से बता चुका हूँ कि वह कैसा आदमी था। अब यह भी बता देना उचित है कि कैसे मैंने उसे खोया .....

उस दिन की बात को सोच कर भी आत्मा काँप उठती है। उसका वह दयनीय अन्त! खून से भरा हुआ उसका वह शरीर मेरे पैरो पर—करुणा से भरी हुई उन आँखों की वह अन्तिम पुनीत दृष्टि—मेरे लिये ये घटनाये बड़ी ही हृदय-विदारक हैं। लेकिन कहना तो मुझे होगा ही।......आप एक वृद्ध की दुर्बलताओं के लिये उसे क्षमा करेंगे। उनके पास और कोई चीज तो ऐसी मिलेगी नहीं जिसे खो देने का उन्हे भय हो किन्तु पहले की खोई हुई किसी प्रिय वस्तु की स्मृति को सहन करना उनके लिये कठिन होता है।

अभी तक मैंने आप से अपने विषय में कुछ नहीं कहा—कहने को कुछ है भी नही। किन्तु उसकी मृत्यु की घटना को समझाने के लिये मुझे अपने बारे मे कुछ कहना ही पडेगा।

जिस छोटे से कस्बे मे मैं रहता था उसी मे मेरा एक शत्रु भी था। मैंने उसका कुछ बिगाड़ा न था। ऐसा होता है कि लोग यो ही शत्रुता कर बैठते हैं—यद्यपि उनकी शत्रुता का कोई उचित कारण नहीं जाना जा सकता। बात पहले ईर्ष्या से शुरू हुई और बढते बढते शत्रुता मे परिणत हो गई—शत्रुता भी खासी।

उसके पास शक्ति थी और बहुत से लोगों की सहायता भी उसे प्राप्त थी। उसने कई बार मेरी जान लेने का भी प्रयत्न किया। ऐसी हालत मे उस कस्बे मे मेरा रहना कठिन था। लेकिन कुछ कारण

ऐसे थे जिनकी वजह से मुझे वहाँ रहना पडता था। मेरा मित्र भी उस समय वही रहता था। उसे मेरे शत्रु के बारे मे सब कुछ मालूम था और कई बार उसने मेरी सहायता भी की थी।

शाम के वक्त हम लोग बाहर मैदान मे टहलने के लिये जाया करते थे। एक दिन हम ऐसे ही, एक तग जगह मे धीरे धीरे जा रहे थे। इधर उधर की बाते हो रही थी। आकाश साफ था। पृथ्वी का उन्मुक्त सौन्दर्य देखते ही बनता था। अन्धेरा बढ रहा था। सामने का मैदान धुँधला पड गया था। ओस भी गिरने लगी थी। लौटती वक्त काफी देर हो चुकी थी। हम लोग—आशका हीन, कस्बे की ओर बढ रहे थे। कस्बा अब भी कुछ दूर था।

मैं कह चुका हूँ कि हम लोग धीरे धीरे जा रहे थे। जिधर से हम जा रहे थे उधर कुछ ही दूर पर सड़क के किनारे एक झाडी थी। मैं खूब जोश के साथ बाते कर रहा था। एकाएक वह मेरा कन्धा पकड़ कर चिल्ला उठा—'अरे, जल्दी! जल्दी उस पेड़ के नीचे चले जाओ।" और उसने मुझे पास ही के एक पेड़ की दूसरी ओर एक प्रकार से जबर्दस्ती ढकेल सा दिया। मैं कुछ सोच भी न पाया था कि मामला क्या है—इतने ही में एक धडाके की आवाज हुई और मेरा मित्र जमीन पर गिर पड़ा।

× × ×

दूसरे ही क्षण सारी बाते समझ में आ गई। सामने की झाड़ी के पास से दो आदमी भागे चले जा रहे थे। उनमे से एक मेरा शत्रु था। उसने मुझ पर गोली चलाई थी लेकिन मेरे मित्र ने अपना

जीवन दे कर उसके निशाने को व्यर्थ किया। मुझे इस बात का बडा अफ़सोस हुआ। मैं उसके पास ही जमीन पर बैठ गया।

एक क्षण बाद ही मैं उठ खडा हुआ। मैंने देखा—वह अभी मरा नहीं था। मैं डाक्टर बुलाने दौड़ा लेकिन उसने बीच ही मे रोक कर कहा—"कोई फायदा नहीं है भाई। ससार की कोई भी शक्ति मुझे नहीं बचा सकती। मुझे जाना ही होगा।·····मेरे पास बैठ जाओ।" उसकी बोली शिथिल हो रही थी। गोली उसकी गर्दन मे घुस गई थी।

उसने अपना हाथ मेरी ओर फैलाया—जैसे वे अब भी शत्रुओं से मेरी रक्षा मे तत्पर हो। "उन्होने सोचा होगा—वे तुम्हे तकलीफ़ पहुँचा सकेंगे—उस समय भी जब मैं तुम्हारे पास मौजूद था।" उसके होंठो पर विजय की मधुर मुसकान खेल रही थी।

कुछ देर के बाद उसने शिथिल से स्वर मे कहा—"भाई, दुखी न हो। इसके सिवा और हो ही क्या सकता था !·· ··मुझे तुमसे कुछ कहना है। जरा और नजदीक आ जाओ।·· · हाँ, अब ठीक है।·····मेरी सन्दूक मे चार सौ रुपये पडे हैं। उन्हे मेरे पिता को दे देना। मैं जानता हूँ—वे अभी जीवित हैं।·····यह मेरी मेहनत और ईमानदारी की कमाई है"—रुकते हुए उसने कहा।

स्वीकृति मे मैंने सिर हिलाया। उसने फिर कहा—"मेरी बहुत सी इच्छाये अपूर्ण ही रह गई। लेकिन मुझे इसका कोई दुख नहीं है। जो इच्छाये पूर्ण हुई उनसे ही क्या लाभ हुआ ! जीवन तो सारहीन है। मनुष्य के हृदय मे वासनाये हैं और उनके लिये उसे कष्ट उठाना

ही पडता है। मेरा भी यही हाल है। ओह ! जीवन की ये सूनी सूनी घडियाँ।......मुझे और कुछ नहीं कहना है। मेरे लिये दुखी न हो, मेरे भाई......"उसकी जबान रुक रही थी। कुछ क्षणो के बाद मैं इस ससार मे अकेला रह गया।

× × ×

बहुत दिनो की बात हो गई। मै अब बूढा हो गया हूँ। जीवन के सुख दुख से भरे हुए इतने दिन बीत गये लेकिन मुझे और कोई मित्र न मिला। जिन्होने मुझसे मित्रता करनी चाही वे सब भले आदमी थे, मुझे जरूरत थी किसी बदमाश की। मेरे भाव शायद कुछ सकुचित हैं। सभी बूढो के शायद ऐसे ही होते हैं... ...नही तो मुझे एक बदमाश के लिये इतना अफसोस न होता।

कब्रिस्तान के उत्तरी हिस्से मे एक कब्र है। दिन मे सूर्य की चिलचिलाती हुई किरणे उस पर अपना तेज फैलाती हैं। रात मे उत्तरी हवा शोकमय सगीत के स्वर मे उसके ऊपर से बहती है। और अगर आप को उधर से कभी गुजरने का मौका मिले तो आप देखेगे कि एक बूढा आदमी उसकी कब्र के पास पेड के नीचे बैठा हुआ है और अपलक दृष्टि से उस नीरव समाधि की ओर देख रहा है। समाधि के पत्थर पर धुँधले से अक्षरों मे लिखा हुआ है—

"मेरा दोस्त ! क्या सचमुच वह बदमाश था !"

शीर्षक-हीन

१

जीवन मे कितनी ही बार मनुष्य को कितनी ही जटिल समस्याओं का सामना करना पडता है—विशेषतः उस हालत मे जब कि उसका उद्दाम यौवन जीवन की सुख-दुख भरी परिस्थितियो से आलिगन करता है। कभी तो ऐसा होता है कि यौवन का उत्साह अपनी चचलता या गम्भीरता से—अपने विवेक या चपलता से किन्ही किन्ही समस्याओ को सुलझा लेता है। परन्तु बहुधा यही होता है कि अर्थहीन वितण्डावाद मे जीवन की गुत्थियाँ और ज्यादा उलझ जाती हैं। समस्या समस्या ही रह जाती है। उलझन बढ जाती है—जीवन का प्रश्न जटिल और रहस्यमय हो जाता है।

उस दिन रतन मेरे सामने आकर खडा हो गया—विक्षिप्त सा, बाल बिखरे हुए, मुद्रा शोकमयी, खोया हुआ सा। मैं चकित रह गया। इधर कितने ही दिनों से रतन का कोई हाल मालूम न हो सका था।

उस समय वह सौम्य हँसमुख नवयुवक था—भावुक और चचल—कल्पना के सुखमय साम्राज्य मे विचरण करनेवाला। साहित्य का अद्भुत पारखी—कविता मे जीवन और जीवन मे कविता की मादकता ढालने वाला—सुषुप्ति को जागृति और जागृति को स्वप्न बनाने वाला—प्राणो की तन्त्री को ध्वनि और सगीत के उच्छ्वासों से परिपूर्ण कर देने वाला वह जीवन का कवि और कलाकार रतन! ओह! कैसा सुखमय था उसका साथ! हँसते-खेलते उल्लास और आनन्द मे जीवन के दिन कटते थे। आज उन बातों को दो वर्ष से भी अधिक बीत चुके थे—लेकिन स्मृतियाँ अभी ताजी थीं। मालूम होता कि वे दिन स्वप्नालोक की भाँति हृदय के अन्धकार मे बार बार अपनी दीप्ति दिखा जाते।

उस समय रतन बी० ए० की अन्तिम सीढियों पर चढ रहा था। उसकी भावुकता उम्र और अनुभव के साथ—साहित्य के शनैः शनैः होनेवाले रस-परिपाक के साथ अपनी पूर्णता की ओर पहुँच रही थी। सारी सृष्टि ही उसके लिये छन्दमयी हो उठी। विश्व के सारे प्राणियो में उसे विश्वात्मा की छवि दिखाई पडने लगी। जर्रे जर्रे मे उसे गुलाब की खुशबू और सृष्टि के कोने कोने में उसे स्नेह की कलकलमयी मधुर धारा का अनुभव होने लगा। आनन्द ही उसके जीवन का लक्ष्य था—विश्व-बन्धुत्व ही उस लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग। उसकी मुसकानमयी मुद्रा देखकर हृदय अपने आप ही उसके आकर्षण के जाल मे फँस जाता—उसके चरणों पर हृदय अपना सारा स्नेह, सारी ममता उँडेल देता।

उसके साथ जीवन की घडियाँ कलकल-नादिनी सरिता के प्रवाह की भाँति सगीतमयी हो रही थी। अनुपम स्नेह था उसका मुझ पर।

किन्तु उन दिनों उसे कुछ चिन्ताकुल सा देखा करता था। यह उसकी प्रकृति के विपरीत था। एक दिन पूछ ही तो बैठा उसकी विरक्ति का कारण। मुरझाई हुई हँसी हँस कर बोला—"भाई, जीवन ही तो है। कभी हँसी, कभी रंज—कभी खिलना, कभी मिटना—यह तो ससार का क्रम ही लगा हुआ है। मुझे भी अब आगे की चिन्ता लग रही है। संसार में रहकर ससार के पथ पर तो चलना ही होगा, भाई।…… अब हमारे सुखमय, कल्पनामय, उन्मादमय विद्यार्थी-जीवन का अन्त समीप है।"

"मगर क्यों, रतन ! तुम्हारे पिता तो तुम्हे अभी और आगे पढ़ाना चाहते हैं। वे तो तुम्हे सिविल सर्विस (Civil Service) मे देखना चाहते हैं।"

"वह मेरे लिये एक मोहक स्वप्न है, व्रजेश। वे मुझसे इतनी आशा… • " और उसने अपना मुँह फेर लिया—शायद आँखों मे उमड़ते हुए आँसुओ को छिपाने के लिये। उसके बाद इस विषय पर फिर कोई बात न हुई। किन्तु इतना जान गया था कि पिता पुत्र के विचारो में सघर्ष हो रहा है। पिता पुत्र को सम्मान के ऊँचे शिखर पर देखना चाहता था। किन्तु पुत्र विश्व की करुणा को अपने हृदय मे छिपाये सादा और आडम्बरहीन जीवन व्यतीत करना चाहता। मैंने समझा कि रतन धनी बाप का लाड़ला बेटा है। पिता-पुत्र मे से कोई भी एक, तरह दे जायगा। जीवन की गति साधारण लोगों की भाँति सरलता के साथ अपने निर्दिष्ट पथ पर चल रहेगी।

किन्तु आज जब रतन को अपने सामने इस प्रकार देखा तो आशका से मेरा हृदय एक बार काँप उठा। पिछले जीवन के चित्र मानस-पट पर विद्युत्गति से अकित हो गये। सौम्य, सुन्दर, प्रातःकालीन पुष्प की भाँति खिला हुआ युवक रतन आज इतने दिनों बाद इस वेश मे एक भूले हुए मित्र के सामने! मुझसे सहसा पूछा भी न गया कि उसकी ऐसी हालत क्यों? मुझे स्तम्भित सा देखकर वह बोला—"व्रजेश, मेरे भाई, क्या एक अभागे भाई के लिये भी तुम्हारे हृदय मे कुछ सहानुभूति है?" हृदय पहले ही से विचलित हो रहा था। इतना सुनते ही रो पडा। दौड़ कर मैं उससे लिपट गया। उसकी आँखों से भी अश्रुधारा बह चली।

उसकी बोली ऐसी हो रही थी जैसे उसकी साँस टूट रही हो—जीवन की घड़ियाँ जैसे शिथिल हो रही हो। आँसू बरसाते हुए उसने कहा—भाई व्रजेश, मैं तो हर तरह से लुट गया। पिता से मेरी पट न सकी। अन्त तक वे अपनी ही हठ पर निरकुशता के साथ अडे रहे। कष्ट के दिनों में सहानुभूति दिखानेवाली एक कमला थी। हाल ही मे बच्चा हुआ था। तुम तो जानते न होगे—जानते भी कैसे!...... सोचा था—जीवन की फुलवारी इस शिशु की निर्दोष हँसी से लहलहा उठेगी। किन्तु, भाई, ईश्वर को यह भी मजूर न हुआ।.. ......अभी अभी उन दोनों को एक साथ एक ही चिता पर अग्नि की भेट चढाए आ रहा हूँ।... ...एक कमला की ही ममता थी, नही तो, इस जीवन मे और क्या था। आज वह भी न रही। जीवन शून्य हो गया।"

मै स्तम्भित सा रतन की कहानी सुन रहा था। दिल ऐसा बैठ गया था कि पूछ भी न सका—कमला को क्या हुआ था। सहानुभूति और सान्त्वना के दो शब्द भी न कह सका। सिर्फ आँखे मूक रोदन से हृदय के करुण भावो को प्रकट कर रही थी। हम दोनो ही बैठे आँसू गिरा रहे थे।

कुछ देर बाद उसी ने कहा—"उठो व्रजेश, कब तक रोते रहोगे? जिन्दगी में रोने के लिये बहुत सा वक्त मिल जायगा। तुम कामकाजी आदमी हो। अपना काम भी करते रहो।"

बड़ी मुश्किल से मैं रह सका—"लेकिन रतन, रहना तुम्हे मेरे पास ही होगा। मैं तुम्हे कहीं नही जाने दूगा।"

कुछ देर सोचने के बाद उसने उत्तर दिया—"हाँ, अच्छा। पिता जी के पास तो मैं जा ही नही सकता। मगर.........अच्छा, देखा जायगा।"

इसके बाद वह दो दिन और मेरे पास रहा। इन दो दिनों मे मेरी उससे कोई विशेष बात न हो सकी। मै देखता था—वह विक्षिप्त सा, सोया हुआ सा अपने कमरे मे पड़ा रहता—बार बार एक तसवीर की ओर देखता और बार बार आँसू बहाता। मैं जानता था वह तसवीर किसकी थी। मैं उसकी इस मूक आराधना में बाधा न डालता। लेकिन दो दिन के बाद वह अचानक गायब हो गया—बिना कुछ कहे सुने ही। कहाँ चला गया—इसका मुझे कुछ पता न लग सका। लाचार मैं चुप हो रहा। सोचता—ऐसे होनहार युवक की जिन्दगी कैसी बर्बाद हो रही है। मालूम होता—कोई शाप-भ्रष्ट योगी अपने प्रापो का

प्रायश्चित्त इस जीवन मे कर रहा हो—अथवा दुनिया के और नवयुवको के लिये जीवन के नियन्त्रण का और कष्ट-सहन का एक नमूना तैयार हो रहा हो। जो भी हो, हृदय के अभिन्नतम रतन को इस अग्नि-परीक्षा में बुरी तरह जलते देख कर हृदय वेदना से तड़प उठता। कर ही क्या सकता था। वह इस तरह लापता जो हो गया।

२

मैं एक व्यवसायी आदमी था। व्यवसायी भी ऐसा जो अपने व्यवसाय के आगे और किसी चीज की सुध नहीं रखते। महीनों तक मुझे बाहरी दुनिया से कोई सरोकार न रहता—सिर्फ अपने व्यवसाय के संकुचित दायरे मे कोल्हू के बैल की भाँति भटका करता। कचित् कभी जो समय मिल जाता तो अखबार उठा कर देख लेता—नहीं तो वह भी नहीं। यही वजह थी कि इतना प्रिय होते हुए भी रतन को मैंने कभी पत्र न लिखा और न उसका कोई हाल ही जान सका। नहीं तो शायद उसके जीवन की उलझी हुई समस्या को किसी हद तक सुलझा सकता। उस दिन की घटना तक मैं यही समझता था कि रतन प्रसन्न होगा। लेकिन उस दिन मुझे अपनी लापरवाही और रतन की वास्तविक स्थिति का पता लगा और इसके पहले कि मैं इस विषय मे कुछ सोच या कर सकूँ, रतन गायब हो गया। मैंने उसका पता लगाने की बहुत कोशिश की किन्तु सब बेकार हुई। लाचार मैंने उसके पिता को इस बात की सूचना दे दी और चुप बैठ रहा।

कार्य में लगे रहने के कारण मनुष्य बहुत कुछ भूला रहता है। उस पर भी समय का प्रवाह स्मृति पर पर्दा डालता है। जैसे जैसे समय बीतता गया, रतन की स्मृति क्षीण होती गई—यद्यपि उस दिन का दृश्य समय समय पर हृदयाकाश मे बिजली के समान कौंध जाता। यहाँ तक कि उस बात को पाँच छै महीने बीत गये। किन्तु सहसा एक ऐसी बात हो गई जिसने उसकी याद को ताजा कर दिया।

उस दिन कोई विशेष काम न था। बैठा बैठा हाल ही के आये हुए मासिक "जीवन" के पन्ने उलट रहा था कि "शीर्षक-हीन" नाम की एक कहानी पर नजर पड़ी। कहानी के शीर्षक पर ही कुछ आश्चर्य हुआ। लेखक का नाम देखा तो कौतूहल और बढ गया। "दलित कुसुम" भी क्या कोई लेखक हो सकता है? स्वभावतः ही पढ़ने की इच्छा प्रबल हो उठी। कहानी क्रमागत थी फिर भी पढे बिना न रहा गया।

माता की ममता मे मानव-जीवन का प्रभात होता है—उसी की स्नेह-छाया में जीवन-लता पल्लवित होती है। उसी के दुलार के बीच जीवन की कलियाँ चटक चटक कर खिलती हैं। स्नेह की मृदु शीतल धारा से शैशव की क्यारी सरसब्ज होती है। उस समय माँ पुचकारती भी है—मारती भी है। प्यार हँसता है—स्नेह आँसू बरसाता है। शैशव खिल खिल उठता है। शैशव किशोर में परिणत होता है और किशोर यौवन में—किन्तु माता के स्नेह मे कोई परिवर्तन नहीं होता। कम से कम मानव-प्रकृति किसी ऐसे परिवर्तन की आशा नहीं करती। किन्तु संसार मे भिन्न भिन्न प्रकृति के लोग होते हैं। किसी किसी

अभागे को माता के इस निश्छल प्यार का आनन्द भी नही प्राप्त होता। प्रकाश भी ऐसे ही अभागों मे से एक था। पिता का स्नेह तो उसे जीवन मे कभी प्राप्त ही न हुआ था। माता के दुलार की कुछ क्षीण स्मृतियाँ थी किन्तु उन्हे धोने के लिये शायद आँखों का आँसू ही पर्याप्त था। बहुत सम्भव है कि इसमे उसी के दिल और दिमाग का कसूर रहा हो—मगर बात तो कुछ ऐसी ही थी।

प्रकाश का जीवन उस समय कटकाकीर्ण था। भरी जवानी मे वह बेकार बैठा था। पिता की राय मे राय मिलती न थी। जीवन की गति को निर्द्धारित करने में उसे सफलता न मिल रही थी। उसका हृदय विद्रोही हो रहा था। आखिर ऐसे कितने दिन तक बैठा रहता। बडा भाई कमाने वाला था। छोटा अभी पढ रहा था। वही एक पढा लिखा बेकार था। मौके बेमौके पिता की लानत मलामत सहनी पड़ती—लोगों के ताने भी सुनने पडते—बिल्कुल बेकसूर। उसका हृदय तिलमला उठता। अपने जीवन पर उसे इतना भी अधिकार नही। उसके हाथों मे इतनी शक्ति नहीं—उसके हृदय में इतना साहस नहीं कि वह अपनी उदरपूर्ति का साधन प्रस्तुत कर सके। फिर क्यों वह इतनी उपेक्षा और अपमान सहन कर रहा है। लेकिन फिर उसे कमला का भोला मुखडा याद आता। उस बेचारी को कितना कष्ट होगा। अभी उस दिन तो बच्चा हुआ है। अभी तो कुछ करने लायक भी नहीं।······फिर क्यो न वह पिता की बात को ही मान लेता। इस प्रकार पिता की बातों की अवहेलना करके क्या वह पुत्र-धर्म का पालन कर रहा है? किन्तु आत्मा—वह तो किसी के बन्धन में नही है।

आत्मा ही जिस बात को नहीं मान रही है उसे वह कैसे कर सकता। पिता को भी कैसी हठ है! वे ही यदि तरह दे जाते। एक बार यदि अपनी हठ छोड़ कर पुत्र की ही इच्छा पूरी होने देते। दोनो संघर्षों के बीच प्रकाश का जीवन बर्बाद हो चला। जीवन की समस्या समस्या ही बनी रही—जरा सी उलझन में सारा जीवन नष्ट हो गया।

पिता की ओर से जो था वह तो था ही। माता की ओर से भी प्रकाश को सुख न था। शादी होने के बाद से ही माँ का प्यार कुछ विलक्षण रूप पकड़ने लगा था। कहा नहीं जा सकता कि उसमे स्वार्थ की मात्रा अधिक थी या परमार्थ की किन्तु जब से प्रकाश ने पिता की इच्छा के विरुद्ध पढ़ना छोड़ दिया तब से एक प्रकार से उसका घर में रहना कठिन हो गया। आये दिन कोई न कोई बात उठती और उसे पानी पी पीकर कोसा जाता—उसकी नालायकी पर, आज तक की उसकी पढाई के लिये रुपये की बर्बादी पर। प्रकाश चुपचाप सुनता—सहता। किन्तु सभी बातों की एक सीमा होती है!

उस दिन जब उसकी स्त्री के बच्चा होने का तार आया तो प्रकाश के दिल की कली खिल उठी। भविष्य के सुनहरे ससार की आशा से उसके हृदय का कोना कोना प्रफुल्लित हो उठा। घर मे भी उत्सव हो उठा। उस समय माता के हार्दिक आनन्द के उच्छ्वास को देख कर प्रकाश का सिर नीचा हो गया। क्या आज तक की उसकी धारणा नितान्त भ्रममूलक थी? आह उसने कितना पाप किया है! माता के—जननी के प्रति वह कितना बड़ा अपराधी है! उसके पापो का क्या प्रायश्चित्त होगा!

किन्तु पाँच चार रोज बाद ही उसके सामने एक सवाल पेश किया गया। अब वह बालबच्चो वाला हो चुका था। परिवार का बोझ बढ़ता जाता था। उसे भी परिवार की स्थिति के साधनो मे योग देना चाहिये। आखिर कब तक दूसरे लोग उसके भरण पोषण के भार को वहन करते रहेगे ?

प्रकाश—लेकिन माता जी, मैंने इसके लिये "ना" कब की है ? मैं तो खुद कई बार यह बात कह चुका हूँ कि मुझे किसी काम मे डाला जाय जिससे मैं कुछ कमाने खाने लायक हो जाऊँ।

माता—तो फिर क्यों नहीं कोई काम करता ? इतने काम अपने यहाॅ होते हैं—क्यों नहीं उनमे से कोई काम सॅभाल लेता ?

प्रकाश—माता जी, कोई भी काम सॅभालने के पहले उस काम को अच्छी तरह सीख लेना होता है, तभी वह काम अच्छी तरह सँभाला जा सकता है।

माता—क्यों रे प्रकाश, तू ने बी० ए० पास कर लिया और अभी तू कोई काम भी नहीं सॅभाल सकता ? यह तो बड़े ताज्जुब की बात है। आखिर तू इतने दिनो तक करता क्या रहा ?

प्रकाश—माता जी, बी० ए० पढने का यह मतलब तो नहीं है कि मैं सब काम सॅभालने लायक हो जाऊँ। कालेजों मे कोई खास काम तो सिखाया नहीं जाता। वहाॅ तो मनुष्य के साधारण ज्ञान को विकसित करने की चेष्टा की जाती है। किसी को भी कोई काम करने के पूर्व उस काम को समझ लेना पडता है। इसमें मैंने कोई नई बात तो नहीं कही, माॅ।

माता—अरे बाप रे, इस लडके की बातें तो सुनो। इतना बड़ा हो गया। इतने दिन पढने में बर्बाद किये और अभी तक यह कोई काम भी नहीं कर सकता।

न मालूम कहाँ से प्रकाश के पिता उस समय आ गये। उन्होंने जो गड़बड़ सुनी तो वहाँ आ गये और पूछा—क्या बात है?

प्रकाश की माँ ने कहा—"देख रहे हो कुँअर साहब की बातें। आज मैंने चर्चा छेड दी कि अब तुम भी बाल-बच्चे वाले हुए। कुछ काम धाम करने की चेष्टा करनी चाहिये। तो कहते हैं कि हमें तो कोई काम ही नहीं आता।

इतना सुनना था कि पिता का पारा गरम हो गया। दाँत पीस कर कहा—उन्हें क्यों काम की सूझेगी। इतने दिन पढते रहे। कितने ही रुपये पढाई पर बर्बाद हो गये और जब वक्त आया तो डेढ छटाँक की जबान हिला कर अलग हो गये। सारे मनसूबे खाक में मिल गये। इतना रुपया खर्च किया हुआ धूल मे मिल गया। सिविल सर्विस इनको काटती थी! लेकिन हो क्या? मेहनत भी तो करनी पडती है! अब साहब कहते हैं—हमको काम करना नही आता। इतने बडे बौडम हो गये, अभी काम नहीं आता। यह नहीं देखते कि बडा भाई अपना खून सुखा कर पैसा पैदा कर रहा है तो कुछ तो उसका हाथ बँटावे। ..."कुछ नहीं, हमारे घर मे तो वही रहेगा जो बैल की तरह काम करे। निठल्लुओं और बैठ कर खाने वालों का यहाँ कोई काम नहीं है। कल ही से तुम्हे दूकान का काम सँभालना होगा।

बेचारा प्रकाश अपनी सफाई मे कुछ कह भी न पाया कि पिता अपना फैसला देकर चलते बने। उसे बड़ी ग्लानि हुई। कम से कम उसके पिता उससे मनुष्योचित व्यवहार तो कर सकते थे। अकारण बार बार यों अपमानित होकर प्रकाश का तरुण हृदय क्षुब्ध हो उठा। उसका हृदय विद्रोही हो चला। माता के प्रति उसके हृदय मे जो क्षणिक कोमल भावनाये जाग्रत हुई थी वे लुप्त हो गई। इसमे उसका अपराध था या अदृष्ट का निर्मम उपहास—कौन कह सकता है। स्वर्ग से भी ऊँचा पद है माता का।

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रकाश को अपनी पत्नी का एवं श्वसुर का पत्र मिला। कमला की तबियत ज्यादा खराब थी। प्रसव की पीडा को उसका कोमल स्वास्थ्य सहन न कर सका। प्रकाश का हृदय आशका से कॉप उठा। तो क्या जिन्दगी का यह एक सहारा भी छीन लिया जायगा? चिन्ता से उसका चित्त उद्विग्न हो गया। रह रह कर उसे कमला की याद आने लगी। उसकी इस हालत में उसका हृदय उसके पास पहुँचने के लिये व्याकुल हो उठा। किन्तु प्रकाश कहे भी तो किससे! कौन उसकी सुनने वाला था। इसी प्रकार चिन्ताकुल सा वह अन्यमनस्क हो रहा था। कोशिश कर के भी कोई काम न कर सका। किसी तरह करता भी तो कोई न कोई भद्दी भूल हो जाती। ऐसे ही वक्त में उसकी अपने पिता से मुठभेड हो गई। उन्होने बिगड कर कहा—"क्या इसी तरह काम करोगे?"

प्रकाश—पिता जी, एक ही दिन मे तो सब काम नहीं आ जायगा। आप सन्तोष रखिये—कुछ दिनो मे मैं सब कुछ समझ जाऊँगा।

पिता—सन्तोष की भी एक हद होती है। कहाँ तक कोई सन्तोष करेगा! मेरे घर मे रहना है तब तो ठिकाने से काम करना पडेगा।

प्रकाश—पिता जी, आज मुझे कुछ न कहिये। मेरी तबीयत आज ठिकाने नहीं है।

पिता—ओफ ओह! बड़ी तबीयत वाले बने हैं। जब काम करना पड़ा तब तबीयत बिगड गई। क्या हुआ है जनाब के मिजाज शरीफ को?

प्रकाश ने बहुत सहन किया था। क्रमशः उसकी सहन-शक्ति क्षीण होती जा रही थी। आखिर वह भी तो मनुष्य था। आज उसका दुखा हुआ हृदय और न सह सका। उसने शान्त दृढ स्वर मे कहा—"पिता जी, आप से मुझे ऐसे क्रूर व्यवहार की आशा न थी। आप पिता हैं। आप की बातों का प्रत्युत्तर मै नहीं दे सकता। किन्तु मनुष्य आप भी हैं और मैं भी। मेरी स्त्री की तबीयत खराब है—इसे आप भी जान चुके हैं। कम से कम आप इस बात का अनुमान कर सकते थे कि आज मेरे हृदय की क्या दशा होगी। जब जीवन-मरण मे ही आप मुझसे मनुष्योचित व्यवहार नहीं कर सकते तो बेकार है मेरा कुछ कहना और आप से कुछ सुनना। कभी किसी दिन शायद आप आज के लिये दुखी हो!"

प्रकाश के पिता को कभी ऐसा जवाब पाने का मौका नहीं मिला था। वे बर्दाश्त न कर सके—क्रोध से तिलमिला उठे। उन्होंने कहा—"प्रकाश, मैंने बहुत सहा। मेरी बात न सुन कर तूने पढ़ाई छोड़ दी। इतने दिन की मेरी आशाओं पर पानी फेर दिया। अब तक बेकार

बैठा खर्च उठाता रहा। और अब काम करने के लिये कहने पर यों सर चढ रहा है। इतना नाज तो मै नही उठा सकता। तू अपना प्रबन्ध कर ले।

प्रकाश—पिता जी, इसके लिये मैं प्रस्तुत हो चुका हूँ। मेरे भाग्य मे यदि ठोकरे खाना ही लिखा है तो उसे आप और हम नही रोक सकते। जिस पिता ने पैदा होने के पूर्व ही माता के स्तनो मे दूध का प्रबन्ध किया वही अब भी खाने का प्रबन्ध करेगा। वही आपको देता है—वही मुझे देगा। नही तो पृथ्वी माँ की गोद तो है ही! .... प्रणाम।

प्रकाश चल पडा—हमेशा के लिये घर से मुँह मोड कर। पिता के यहाँ से चल कर वह एक मित्र के पास गया और उससे कुछ रुपये उधार लेकर कमला को देखने के लिये चल पड़ा। अभी उसे और किसी की चिन्ता न थी।

दूसरे दिन दोपहर को वह कमला के पास पहुँचा। किन्तु उसे बहुत देर हो चुकी थी। उसका बच्चा उसके पहुँचने के पूर्व ही चल चुका था। उसके देखते ही देखते उसके चरणों की धूल को सिर पर चढा कर कमला ने भी दम तोड दिये। प्रकाश सज्ञाहीन सा होकर अपनी स्त्री के शव पर गिर पडा।

सन्ध्या समय—गगा के तट पर धू धू करके एक चिता जल रही थी। पास ही विक्षिप्त सा प्रकाश बैठा था। उसकी आशा, उसके यौवन का उन्माद, उसके तरुण हृदय का सारा साहस भी, उसके जीवन के अन्तिम आधार के साथ, उसी चिता मे जल कर खाक हो रहे थे!

३

प्रकाश का चित्र वास्तव में करुणाजनक था। कहना नही होगा कि—चरित्र-चित्रण में कोरी कल्पना से ही काम न लिया गया था बल्कि शुरू से आखीर तक एक ऐसा कठोर सत्य वर्तमान था जिसके बारे मे कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। स्कूल या कालेज की पढाई समाप्त करने के बाद, हम क्या करें, यह एक ऐसा प्रश्न है जो आज कितने ही युवको के मस्तिष्क को परेशान किये हुए है। यह एक ऐसी समस्या है जो ऊपर से तो बिल्कुल साधारण सी जान पडती है लेकिन जिसका सुलझाना न तो उन युवको के लिये ही आसान है और न उनके अभिभावकों के लिये ही। आधुनिक शिक्षा, उसके उपादानों एव उपयोगों से अनभिज्ञ बेचारे अभिभावक यह जानते भी नही कि उनके या उनकी सन्तानो के लिये जीवन-सग्राम मे कौन कौन से मार्ग खुले हुए हैं। ज्यादातर अभिभावक स्वय अशिक्षित होते हैं—प्राचीन परिपाटी के अनुकरणकर्त्ता, सन्तानो के विषय मे अपने ही मत की पूर्ण एकाधिपत्यता के उपासक एव अक्सर जिद्दी स्वभाव के होते हैं। प्रकाश के पिता भी शायद ऐसे ही अभिभावकों मे से रहे होगे जिन्हे पुत्र का चला जाना स्वीकार किन्तु अपनी हठ का छोड़ना स्वीकार न रहा होगा। माता के चित्रण मे अवश्य निर-कुशता से काम लिया गया था। किन्तु हो सकता है "दलित कुसुम" को प्रकाश की माता सरीखी ही किसी माता से काम पडा हो। लेकिन यह "दलित कुसुम" है कौन? कहानी की घटनाये कुछ कुछ रतन के जीवन से मिलती जुलती थीं। तो क्या रतन ही तो नही इस नाम

से साहित्य-संसार में अवतीर्ण हो रहा है ? मेरे हृदय की धड़कन बढ़ गई। मैंने इस बात का निश्चय कर डालना चाहा। "जीवन" के पिछले अंकों को निकाला और "शीर्षक-हीन" के प्रारम्भिक अंश पढने लगा।

जिस समय प्रकाश विद्याध्ययन के लिये लखनऊ चला उस समय वह चौदह वर्ष का था। उसके पिता नाराज थे इसलिये कि वह पढ़ता नहीं और वह नाराज इसलिये था कि उसके पिता उसे पढ़ने के लिये शहर नही भेजते। उसके पिता कहते—शहर मे पढ़ाई का खर्च अधिक पडेगा, वह कहता—गॉव की बेतरतीब पढाई में बेकार वक्त बरबाद हो रहा है। आपस की खींचातानी का नतीजा यह हुआ कि प्रकाश के पिता ने नाराज हो कर उसे लखनऊ भेज दिया। पिता का नाराज होना प्रकाश के हक मे अच्छा ही हुआ। वह डेढ़ वर्ष तक लगातार वहीं रह गया और इस बीच म उसकी प्रतिभा पूर्ण रूप से विकसित हो उठी।

इसी बीच मे एक मित्र के जरिये प्रकाश की जान पहचान 'भावु-कता" से हो गई। प्रारम्भिक मिलन में ही ऐसा प्रतीत हुआ जैसे ये जन्म जन्मान्तर के साथी रहे हो—एक दूसरे को छोड़ना ही न चाहते हो—दोनों एकाकार हो रहे हों। प्रकाश साहित्य का पुजारी हो गया। कविता का मुखर प्रवाह उसके जीवन में सगीत की सृष्टि करने लगा। ध्वनि के कलामय रुनझुन रुनझुन मे आत्मा नृत्य करने लगी। भावो की लोल लहरियॉ ताल देने लगी। प्रकाश का जीवन ही सगीतमय हो गया—स्नेह की तरलता से हृदय का एक एक कोना द्रवीभूत हो गया।

यह भावुकता ही उसके जीवन का काल हो गई। सत्य और स्नेह की विभूति से भरा हुआ उसका जीवन ससार की छलनामयी लीला के अनुपयुक्त हो गया। कल्पना के दिव्यालोक मे विचरण करने वाला उसका भोला हृदय ससार के छलछन्दों से भरी हुई कठोर व्यवहारिकता का साथ न दे सका। उसके लिये उसे आये दिन दो चार बाते भी सुननी पड़तीं। किन्तु हृदय की भावनाये उसके वश की न थी। वह धीरे धीरे सासारिक रीति-नीतियो के अयोग्य हो चला।

आज के ससार के लिये पैसा ही सब कुछ है किन्तु भावना के नशीले झोंके मे स्नेह की तरलता और आत्मबलिदान के सिवा और कुछ नहीं रहता। इसी नशे के झोंक मे प्रकाश ने एक बार एक मित्र के लिये कुछ रुपये खर्च कर दिये। पिता से तो वह कुछ कहता न था। माता से उसने चुपके से यह बात कह दी। सुनते ही माता ने हल्ला मचा दिया। पिता के कान मे भनक पडी तो उन्होने प्रकाश को बहुत कुछ बुरा भला कहा। प्रकाश का कोमल हृदय विदीर्ण हो गया। उसी दिन से माता के प्रति उसे अश्रद्धा सी हो गई।

कुछ दिन तक तो इसी तरह चलता रहा। प्रकाश घर जाता भी तो कै दिन के लिये। किसी तरह हॅसते बोलते ये दिन भी निकल ही जाते। उस साल प्रकाश की शादी होने वाली थी। उसका हृदय भीतर ही भीतर खिला जाता था। कवि-हृदय की कोमल काल्पनिक भावनाये उसके जीवन मे एक नवीन ही मादकता की सृष्टि कर रही थीं। आखिर वह दिन भी आया। कविता-कामिनी की जगह जीवन के उपवन में उपवन की रानी ने प्रवेश किया। काव्य की धारा उसी

ओर प्रधावित हो चली। अब तक जो उपास्य थी वही अब परिचारिका हो गई। हृदयेश्वरी की एक एक मुसकान मे, एक एक कटाक्ष मे, एक एक बात में, एक एक अश्रु-विलास मे, अगो के एक एक कम्पन और रोमाच में अनगिनत कवितायें छिपी पडी थीं। साहित्य-सौरभ की मादकता मे प्रकाश का मन मस्त हो कर झूम उठा।

यह मस्ती अधिक दिन तक न रह सकी। पति पत्नी—दोनो ही नये ख्याल के आदमी थे—आजादी के साथ रहना चाहते। प्रकाश की माँ पुराने विचारों की "असूर्यम्पश्या" वाले सिद्धान्तो का पालन करना चाहतीं। उनका शासन भी एक कठोर शासन था। जिस जमाने में वे खुद वधू बन कर आई थी वह खेती-बारी का जमाना था। राजनैतिक स्थिति के परिवर्तन के साथ साथ रूढिवाद का दौर था। स्वभावतः ही उस समय कुलवधुओ को कठोर सामाजिक नियमो के बन्धन में रहना पडता था। और कुछ शासक का भाव मन मे आते ही स्वभाव मे एक उच्छृङ्खलता सी आ जाती है। अब वह जमाना बदल गया था। किन्तु प्रकाश की माँ को अपना जमाना याद था। वे समय के साथ अपने हृदय को न बदल सकी और वही शासन का भाव विद्यमान था। कमला सास के कठोर शासन मे कोमल कली की भाँति मुरझा चली। प्रकाश का हृदय और भी क्षुब्ध हो उठा।

इधर प्रकाश जब से माता की ओर से कुछ विरक्त सा रहने लगा तब से उनके मन मे एक दूसरा ख्याल पैदा हुआ। माता ने सोचा—जब तक प्रकाश के जीवन मे कमला नही थी तब तक प्रकाश

उनसे कैसा स्नेह करता था। अब कमला के आते ही उसका मन बदल गया। नारी का आकर्षण इतना अधिक हुआ कि प्रकाश माता के दुलार को भूल ही गया। प्रकाश की माँ का हृदय ईर्ष्या से जल उठा।

नारी के हृदय में जब ईर्ष्या हो और ईर्ष्या के साथ साथ जहाँ प्रभुत्व हो वहाँ शान्ति के लिये जगह नहीं रहती। प्रकाश की माँ के प्रभुत्व ने अत्याचार शुरू किया और उसका भला या बुरा परिणाम दोनों ही ओर से प्रकाश के सिर पडता। आये दिन उसे माँ-बाप की जली-कटी बाते सुननी पडती। स्त्री के आँसुओं से उसका कोमल हृदय नासूर हो चला। क्या अविवाहित जीवन इससे अच्छा न था।

ऐसे ही समय प्रकाश के भावी जीवन का सवाल उठा। उसका झुकाव साहित्य की ओर था। उसका जीवन निःस्पृह था—सासारिक स्थिति की महत्वाकाक्षाओ से बिल्कुल परे। प्रकाश के पिता की इच्छा थी—वह ग्रेजुएट होने के बाद सिविल सर्विस की ओर प्रयत्न करे। यह प्रकाश की प्रकृति के विपरीत था। उसने अपनी अनिच्छा प्रकट की। उसके पिता अपने पितृपद की सारी पद-मर्यादा की भावना के साथ उस पर उबल पडे। घर से निकालने तक की धमकी दी। प्रकाश का क्षुब्ध हृदय विचलित हो गया। विद्रोह की भावनाये उसके हृदय मे घर करने लगी। उसने अपना स्पष्ट मत जाहिर कर दिया कि वह सिविल सर्विस के लिये प्रयत्न न कर सकेगा। और बी० ए० की परीक्षा पास करने के बाद वह सचमुच पढ़ना लिखना छोड़ कर घर बैठ रहा।

४

यह तो रतन के ही जीवन की हूबहू नक़ल थी। निश्चय ही यह रतन का लिखा हुआ होगा। और कोई उसके जीवन मे इतनी सूक्ष्म रीति से प्रवेश ही न कर सका था। लेकिन लिखा है उसने "दलित कुसुम" के नाम स। आखिर वह है कहाँ ? क्या "जीवन" के सम्पादक स उसका पता नही चल सकता ? मै तुरन्त कपडे पहन कर उठा और "जीवन-कार्यालय" की ओर चल पडा।

एक व्यवसायी के नाते "जीवन"-सम्पादक से मेरा कुछ परिचय था। वे मुझसे मुस्कराते हुए मिले। कुशल-प्रश्न के बाद मैंने शीर्षक-हीन की चर्चा छेडी। सम्पादक ने कहा—"क्या कहे, व्रजेश बाबू। कहानी क्या, यह तो लेखक के हृदय के रक्त की लालिमा है। इस कहानी की समस्या हमारे युवक-समाज की प्रतिदिन की समस्या है और लेखक स्वय इसी समस्या में पड़कर अपने जीवन को बर्बाद कर चुका है—ऐसा जान पड़ता है। अफ़सोस यही है कि लेखक कहानी को बहुत देर से भेज रहा है। हम ऐसे लेखकों की रचनाओ को शीघ्र से शीघ्र अपने पत्र मे स्थान देना चाहते हैं क्योकि हमारा पत्र लोक-प्रिय होता है।"

"सम्पादक जी, जीवन-व्यापी घटनाओं को एक जगह एकत्र करना, आँख के आँसुओं को सुधारस बनाना, हृदय के काँटे को मुक्तामणि के रूप मे प्रकट करना साधारण बात तो नहीं है।"

"तो क्या आपका यह अनुमान है कि यह कहानी लेखक के जीवन की वास्तविक घटना है ?"

"निस्सन्देह मेरा यही ख्याल है। मेरा एक मित्र था। उसके जीवन मे भी कुछ ऐसी ही घटनाये हुई थी। क़रीब साल भर से उसका पता नही है। यही कारण है कि आज मैं आप से "दलित कुसुम" का नाम और पता पूछने आया हूँ।"

"मुझे सख्त अफसोस है, ब्रजेश बाबू कि लेखक ने अपना नाम और पता हमको नहीं लिखा है। और यद्यपि यह हमारे पत्र के नियमों के खिलाफ है फिर भी कहानी के भाव, भाषा, शैली और सबसे अधिक उसकी वास्तविकता की ओर देखते हुए बे नाम और पते के लेखक को पत्र मे स्थान दिया गया है। हाँ, लिफाफे पर गया के·········पोस्ट आफिस की मुहर थी। लेकिन ऐसा जान पडता है कि लेखक इस पोस्टआफिस से दूर रहता है।"

"धन्यवाद है, सम्पादक जी। मेरे लिये इतना ही काफी है। मैं इतने ही से उसका पता लगा लूँगा।"

इसके बाद मै करीब एक सप्ताह तक गया के ····पोस्ट आफिस के आसपास के गाँवो का चक्कर लगाता रहा। एक दिन सबेरे ····· गाँव में पहुँचा। छोटा सा पहाडी गाँव था। क़रीब दो ढाई सौ घरो की बस्ती। ज़्यादातर गरीब आदमी थे। खेती और गोचारण पर साधारणतः लोगो का निर्वाह था। गाँव से लगी हुई एक छोटी सी नदी बह रही थी। मैंने सोचा—प्रातःकाल है। नदी मे स्नान कर लिया जाय। नदी पर कई प्रकार के लोग भी होगे। शायद रतन का कुछ पता लग सके। उस दिन न जाने क्यो मुझे कुछ आशा सी हो रही थी।

नदी पर कई लोग स्नान कर रहे थे। इनमे से एक पर मेरी दृष्टि विशेष रूप से जमी। दुबला पतला सा आदमी था। सिर पर लम्बे केश और घनी दाढी मे छिपा हुआ चेहरा। बाल अधपके से थे। आँखों के चारो ओर घनीभूत पीडा की छाया के समान काला दाग था। चेहरा साँवला। तट पर बैठा सन्ध्या कर रहा था। मेरा मन उसे देख कर शकित सा हो उठा। कही यही तो रतन नही है। किन्तु रतन तो शरीर मे भारी था। अभी उसकी अवस्था ही क्या थी। बाल पकने का समय तो अभी बहुत दूर था। और सबसे ज्यादा सन्देह की बात तो यह थी कि रतन का चेहरा गोरा था और यह व्यक्ति साँवला था। फिर भी मन उसी की ओर खिंचा जा रहा था। रतन के साथ मैं बरसो रह चुका था। अभी पूरा साल भर भी न हुआ कि उससे मुलाक़ात हुई थी। तो क्या साल भर मे ही उसमे इतना परिवर्तन हो गया कि मैं उसे पहचान भी न सकूँ। मैं इसी प्रकार पशोपेश मे खडा था कि उसकी सन्ध्या समाप्त हुई और वह अपने कपडे समेट कर वहाँ से चल पड़ा। उसके जाने के बाद मैंने एक आदमी से पूछा—"क्यो भाई, इस गाँव मे कोई 'दलित कुसुम' रहता है?"

"ई कस नाँव लेत अहै बाबू? हम तौ ई नॉव कबहूँ नाही सुने रहे।"

"अच्छा, जाने दो। रतनचन्द नाम का कोई आदमी है?"

"जाने तू कस कस नॉव लेत अहै, बाबू। हमरे तौ कुछ समझै मे नाहीं आवत है।"

"भाई, नाराज न हो। मैं यहाँ नया नया आया हूँ। अच्छा, यह तो बताओ, अभी अभी यह जो दाढी वाला गया है उसका क्या नाम है ?"

"अरे, ई तौ परकास बाबू मास्टर अहैं। बडा नीक मनई……"

लेकिन मुझे उस देहाती की बातो को सुनने की फुरसत नहीं थी। मेरा रतन मुझे मिल रहा था। मैं दौड पड़ा प्रकाश बाबू मास्टर के पीछे। देखा—उस गॉव के एक निर्जन कोने में फूस की एक झोंपडी थी। उसी के सामने एक पेड पर प्रकाश अपनी धोती सूखने के लिये डाल रहा था। मैंने दूर ही से पुकारा—"रतन"।

उसने चौंक कर एक बार मेरी ओर सन्दिग्ध दृष्टि से देखा और झपट कर झोंपडी के अन्दर चला गया। लेकिन मैंने उसे दरवाजा बन्द करने का मौका न दिया। दौड कर चौखट पर पहुँच गया। "रतन, रतन, मुझे पहचानते नही। अरे, मुँह से तो कुछ बोल, भले आदमी"—वाकूरुद्ध कठ से मैंने कहा।

"मुझे यो बर्बाद न करो, ब्रजेश भाई।" और वह दौड़ कर मुझसे लिपट गया। उसकी आँखो से अनवरत अश्रुधारा बरस रही थी।

× × ×

मैंने देखा—साफ सुथरी झोपड़ी मे तीन चार छोटे छोटे कमरे थे। एक कमरे में एक चौकी पर भगवान् कृष्ण की मनोहारिणी छवि रक्खी हुई थी। उसी की बगल में एक दूसरी चौकी पर कमला की तसबीर थी। नीचे जमीन पर आसन बिछा हुआ था। पूजा के सभी

सामान प्रस्तुत थे। उसी के बग़ल के कमरे मे सोने का स्थान था। एक कमरे मे रसोईघर और एक कमरा साधारण तौर से बैठने उठने के लिये था।

झोपड़ी के पिछले हिस्से मे एक लम्बाचौड़ा बाडा जैसा था जिसमें वैज्ञानिक तरीकों पर कृषि के अनेकों प्रयोग किये जाते थे। जगह जगह से नये नये प्रकार के उत्तम बीज मँगाये जाते। कृषि-विज्ञान को अधिक उपयोगी और लाभप्रद बनाने की चेष्टा की जाती। किसानो को बीज मुफ़्त मे बाँटे जाते थे। रतन की ही अध्यक्षता मे वही किसानों की एक को-आपरेटिव सोसाइटी (Co-operative Society) कायम हुई थी जिसमे किसाना के लाभ की अनेक बाते होती थीं। आठ बजते बजते गाँव के छोटे छोटे बच्चे एकत्र होने लगे और प्रकाश बाबू मास्टर की पाठशाला शुरू हो गई। मैं रतन के इस सन्तोषमय और परोपकारिता से भरे हुए जीवन पर मुग्ध हो गया। मैंने भावपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा। इस बार उसके होठों पर हँसी की रेखा थी। उसने कहा—"क्यों ब्रजेश भैया, मेरा जीवन सुख और सफलता से परिपूर्ण है न ?" और साथ ही उसकी आँखो से दो बूंदे आँसू की गिर पड़ीं।

५

इस बात को काफी दिन बीत चुके थे। रतन ने मुझसे प्रतिज्ञा करा ली थी कि मैं उसकी बात कहीं भी किसी से न कहूँगा। और न किसी प्रकार का उससे पत्रव्यवहार ही करूँगा। उसका जीवन

सादा पर आनन्दपूर्ण था। मुझे अपने व्यवसाय से ही फुरसत न मिलती थी। कभी कभी जाकर रतन को देख आता था। पिछली बार जब गया था तो उसे बहुत कृश पाया। पूछने पर उसने हँसकर टाल दिया। मालूम होता था—कोई विष अन्दर ही अन्दर उसे घुलाये डालता हो। न जाने कौन सा रोग, कौन सी चिन्ता उसे खाये जा रही थी।

अचानक एक दिन इन सब चिन्ताओं का अन्त हो गया। एक दिन बैठा बैठा मैं नये "जीवन" के पन्ने उलट रहा था। दो चार पृष्ठ उलटते ही एक फोटो पर निगाह पड़ी। मैं चौंक पड़ा। रतन ही तो था। उसकी फोटो यहाँ कैसे! फोटो के नीचे नजर डाली तो सहम उठा। "स्वर्गीय श्री रतनचन्द बी० ए०"। यह क्या मामला है? आँखों के आगे अन्धेरा सा छाने लगा। साथ मे एक सम्पादकीय नोट था—"हमे अत्यन्त खेद के साथ लिखना पड़ रहा है कि श्रीयुत रतनचन्द जी इस भौतिक जगत् मे अब नही रहे। आप एक होनहार साहित्यिक थे। आप की कवितायें साहित्य-जगत् मे विशेष रूप से आहत हो चुकी हैं। हिन्दी ससार को अभी आप से बहुत आशा थी। किन्तु विधि-विधान के आगे किसी का वश नही। परमात्मा दिवगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे। आप की कहानी "शीर्षक-हीन" का अन्तिम भाग अन्यत्र प्रकाशित है। कहना नही होगा कि कहानी लेखक के अपने ही जीवन का करुण चित्र है।"

इन सब का क्या यही अन्त होना था! आखिर यह हुआ कैसे? शायद "शीर्षक-हीन" से कुछ पता चले। मैं कहानी पढ़ने लगा।

शहर के स्वार्थमय वातावरण मे प्रकाश की तबीयत न लगी। दूसरे, मित्र का अकपट स्नेह और कोमल व्यवहार उसे उपकार के एक बोझ के समान जान पडे। घर तो जाने की उसने कसम सी खा ली थी। मित्र के यहॉ से चुपचाप निकल पडा। सयोग से कुछ देहातियो का साथ हो गया। उन्ही के साथ वह गया के • •••ग्राम मे जा बसा।

धीरे धीरे उसकी पाठशाला चल निकली। सरल ग्रामीणो का विश्वास उस पर जमने लगा। उसके स्नेहमय व्यवहार पर गॉव वाले मुग्ध थे। धीरे धीरे प्रकाश ने कृषि-सम्बन्धी वैज्ञानिक प्रयोग आजमाने शुरू किये। इसमे उसे सफलता मिली। उन्ही प्रयोगो के आधार पर उसने वहॉ के कृषको की आर्थिक दशा सुधारने का प्रयत्न किया। उसी के उद्योग से किसानों की एक को-आपरेटिव सोसाइटी कायम हो गई। साल ही भर के परिश्रम से प्रकाश ने गॉव वालो की उन्नति के अनेक साधन प्रस्तुत कर लिये। वह अत्यन्त ही लोक प्रिय हो गया। किसान जनता तो उस पर जान देती थी।

किन्तु एक कॉटा रात दिन उसके हृदय मे खटका करता था—वह था कमला का वियोग। वह इस वियोग की अग्नि को साधना की असीम शान्ति से बुझाने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता था किन्तु कृतकार्य न हो सका। शोक और चिन्ता से जर्जर जीवन को किसी अशक्तता की हालत मे यक्ष्मा जैसे दुष्ट ग्रह ने आच्छन्न कर लिया। धीरे धीरे प्रकाश के जीवन का प्रकाश चिर अन्धकार की ओर अथवा "अमर ज्योति" की ओर अग्रसर होने लगा। उसका स्थूलकाय

शरीर क्षीण हो गया। चेहरे का रंग काला पडने लगा। आँखो के चारो ओर घरारियाँ पड गई। बाल सफेद होने लगे। इस परिवर्तन से प्रकाश प्रसन्न ही हुआ। अब शायद लोग उसे जल्दी पहचान न सकें। उसने लोगों की नजरों से अपने को और ज्यादा छिपाने के लिये दाढ़ी बढा ली। फिर भी अपने एक अन्तरग मित्र की आँखो से प्रकाश अपने को किसी तरह न छिपा सका। वह उसे ढूँढता ढूँढता किसी तरह उस गाँव में पहुँच ही गया और प्रकाश को खोज निकाला। पर प्रकाश ने उससे प्रतिज्ञा करा ली कि वह उसे दुनिया की नजरो से छिपा ही रहने देगा।

इसके बाद समय बीतता गया। प्रकाश निरन्तर अपनी साधना में लगा रहता। दीनों की सेवा, गरीबों की उन्नति, बालको का जीवन-निर्माण—इसी मे उसके जीवन की निरानन्द घडियाँ बीतने लगी। किन्तु धीरे धीरे प्रकाश की जीवनी-शक्ति क्षीण होती जा रही थी। यक्ष्मा उसके जीवन को निस्तेज बनाता जा रहा था। प्रकाश ने भी तो उससे बचने का कभी प्रयत्न न किया।

वह प्रकाश के जीवन-नाटक का अन्तिम दृश्य था। एक दिन प्रातःकाल वह नदी से सन्ध्या करके लौट रहा था। राह मे उसने देखा—एक पेड़ के नीचे एक वृद्ध पुरुष बैठा है—दीन, दुखी और जीर्ण—उसके पास ही लेटी हुई है एक वृद्धा—शायद बीमार। दूर से तो उन्हें देख कर प्रकाश ने साधारण पथिक होने का अनुमान किया। किन्तु जब समीप पहुँचा तो वह चौंक पडा। ये तो उसी के

पिता और माता थे। ये लोग यहाँ इस हालत में! बात क्या है? प्रकाश की कुछ समझ मे न आया।

प्रकाश के पिता सम्पन्न आदमी थे। कई प्रकार का व्यापार था। दस आदमियों पर हुकूमत थी। शान के साथ रहते। वही आज इस प्रकार निराश्रय से वृक्ष के नीचे पडे हुए हैं—प्रकाश समझ न सका मामला क्या है। कहीं प्रकाश की आँखे धोखा तो नहीं खा रही हैं। नहीं, नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है! जिन्हे जीवन के शैशव-काल से अब तक निरन्तर अपनी आँखों के आगे देखता आया है उन्हीं को पहचानने मे क्या वह इतनी बडी भूल कर सकता है! प्रकाश व्यग्र हो उठा। वह उनका हाल जानने को व्याकुल हो गया। फिर भी उसने अपने को छिपाना ही उचित समझा। पिता के पास जा कर उसने कहा—"महाशय, आप यहाँ नये जान पड़ते हैं। मगर इस प्रकार पेड़ के तले क्यों पडे हैं? और ये—ये तो शायद बीमार जान पड़ रही हैं।"

वृद्ध ने अपनी सूनी आँखों को उठा कर एक बार प्रकाश की ओर देखा और फिर आकाश की ओर। उन आँखों मे आँसू भरने लगे और दो बूंदे ढुलक कर जमीन पर गिर पड़ी। एक निःश्वास छोड कर क्षीण स्वर मे उसने कहा—"भाई, अभी तो इतनी शक्ति भी नहीं है कि कुछ कह सकूँ। किस्मत की गर्दिश मे पिस रहा हूँ। पाप ..... पाप .....ओह! भगवान्!"......और वृद्ध ने मुँह ढाँप लिया।

प्रकाश ने बरबस अपने को रोका। उसका हृदय उमड़ा आ रहा था। उसने वृद्ध को सान्त्वना दी और कहा—"आप कोई भी हों,

इस समय मेरे झोंपडे पर चल कर विश्राम करें। मन के स्वस्थ होने पर जैसा उचित समझियेगा कीजियेगा। और वह सहारा देकर दोनों को अपने झोंपडे में ले गया।

पिता की जबानी मालूम हुआ कि प्रकाश के चले जाने के बाद कुछ दिन तक तो सब ठीक रहा। किन्तु उनका हृदय भीतर ही भीतर क्रोध और क्षोभ से जल रहा था। प्रकाश उनकी उपेक्षा कर के चला गया। इतनी स्पर्द्धा—उनका इतना अपमान! उनका स्वभाव चिड-चड़ा हो गया। गुस्सा निकलने की कोई जगह ही न थी। तब लगे बडे लडके केशव पर अपना क्रोध निकालने। केशव मेधावी युवक था। अपनी ही शक्ति और बुद्धि पर उसने सब काम सँभाल रक्खा था। छोटा लड़का अभी पढ ही रहा था। लेकिन इस अकारण क्रोध और लानत मलामत को वह बर्दाश्त न कर सका। उसने दो एक बार अपने पिता को समझाया भी किन्तु समझाने पर उनका क्रोध और भी भडक उठता और वे केशव को और ज्यादा भला बुरा कहते। पारिवारिक जीवन अशान्त हो गया। आये दिन झगडे होने लगे। केशव ज़्यादा सहन न कर सका। वह अलग हो गया। छोटे भाई को भी समझा कर उसने अपने साथ ही रख लिया। सम्पत्ति तीन भागो मे बॅट गई—प्रतिष्ठा जाती रही। वे अकेले पड गये। अब जो हृदय का उबाल था वह घर मे निकलने लगा। प्रकाश की माता का जीवन वेदना से परिपूर्ण हो उठा।

प्रकाश के पिता अब भी अपने पूर्व सम्मान की लालसा में थे और वह केवल धन से ही प्राप्त हो सकता था। किसी ने उन्हे सुझा

दिया कि उन्हे सट्टा खेलना चाहिये। सट्टे मे एक दिन मे ही अगाध सम्पत्ति मिल सकती है। उनको यह बात जॅच गई। सट्टा खेलना शुरू कर दिया। पहले पहले तो उन्हे कुछ प्राप्ति हुई। हौसला बढा। और जोरो पर सट्टा खेलने लगे। लेकिन फिर नुकसान लगने लगा। एक तो शहर से दूर—ठीक समय पर बाजार की हालत का पता न लगता। बिना अच्छी तरह व्यापार की स्थिति और बाजार की गतिविधि को समझे काम करते थे—चोट खा जाते। किन्तु सट्टा जुये के समान है। जिस प्रकार हारा हुआ जुआडी बार बार दॉव लगाता है और हर दॉव मे आशा करता है कि यह दॉव उसी का होगा उसी प्रकार सट्टे मे हारा हुआ मनुष्य बार बार सौदा करता है—चोट खाने पर भी शराब के नशे की भॉति उस कडवी घूॅट को पिये बिना उससे नही रहा जाता। इसी मे न मालूम कितने घर बर्बाद हो जाते हैं। न जाने कितने राह के भिखारी हो जाते हैं। कितने ही जहर खा कर अपने जीवन को जीवन की यातनाओं से बचाने का प्रयत्न करते हैं। प्रकाश के पिता का भी यही हाल हुआ। जैसे जैसे उन्हें नुकसान लगा वैसे ही वैसे उनकी सम्पत्ति-लालसा तीव्र होती गई। जो कुछ बचा था उसे बचाने का प्रयत्न तो उन्होंने किया नहीं। बढाने के प्रयत्न मे वे सब कुछ खो बैठे। साल भर के अन्दर ही उनके पास जो कुछ था नष्ट हो गया। घर के जेवर बिक गये। रहने की जगह तक न रही। फिर भी सट्टे का नशा न छूटा। प्रकाश की माता इसी चिन्ता मे दिन पर दिन घुलने लगी। अभी साल भर पहले ही उनकी कितनी अच्छी स्थिति थी और अब—उनके

किस पाप का भोग यह है कि इतने थोडे समय मे ही वे राह के भिखारी हो गये। सहसा उन्हे प्रकाश की याद आई। आज साल भर बाद उन्होंने प्रकाश को याद किया था। उनका हृदय उमड़ पडा। वास्तव में यही उनका पाप था और यह पाप उन्हे खाये जा रहा था। किन्तु अब प्रकाश कहाँ! वह तो...... ..वह तो... .....वह तो...... ..शायद इस ससार मे . ...प्रकाश की माँ रो पडीं—पश्चात्ताप के आँसू ने हृदय के कल्मष को धो कर साफ कर दिया—किन्तु इस परिवर्तन को देखने के लिये प्रकाश कहाँ था!

प्रकाश के पिता की आदत न छूटी। वे छिपे छिपे सट्टा खेलते रहे। किन्तु तकदीर सीधी न हुई। लोगों का कर्ज सिर पर चढ़ गया। महाजनो के तकाजो से बचने के लिये इधर से उधर घूमने लगे। केशव के पास गये लेकिन केशव ने सहायता करने से इनकार कर दिया। अब उन्हे भी प्रकाश की याद आई। क्या प्रकाश इस प्रकार मुँह मोड सकता था! उनका अपराध मूर्तिमान होकर उनके सम्मुख आ खडा हुआ। उसकी भीषणता देख कर वे काँप उठे। उनकी आत्मा सिहर उठी। प्रकाश की माँ तो चिन्ता मे घुल घुल कर बीमार हो गई।

महाजनों ने जब यह देखा कि रुपया वसूल होने का कोई उपाय नही है तो उन्होंने नालिश कर दी। सम्मन निकले। किन्तु प्रकाश के पिता समय पर हाजिर न हुए—शर्म से मुँह छिपाये रहे। किन्तु कोर्ट (Court) तो हृदय के भावो का अध्ययन नही करती। कोर्ट की ओर से उन पर वारण्ट (Warrant) निकल गया। गिरफ्तार

होने के डर से वे जगह जगह घूमने लगे। पास में पैसा न था। खाने के भी लाले पड़ गये। इधर प्रकाश की माता अत्यधिक बीमार हो गई। दवा हो न सकती थी। इधर उधर मारे मारे फिरना पड़ता था—पैदल ही मजिल पर मजिल तै करनी पड़ती। बीमारी और बढ़ गई। आखिर उस दिन मरणासन्न अवस्था मे इस गॉव में पहुॅचे।

अपने पिता की दर्द भरी कहानी सुन कर प्रकाश की आत्मा रो पडी। यद्यपि वह पिता के हाथों तकलीफ पा चुका था फिर भी वे पिता थे। माता की रुग्णावस्था पर उसे हार्दिक कष्ट हुआ। उनकी दवा का प्रबन्ध भी उसने किया किन्तु हालत सुधरती न दिखाई देती थी। उसकी अपनी हालत भी अच्छी न थी। उस पर यह चोट। तबियत और बिगड़ गई। यक्ष्मा के रोगी के लिये मानसिक आघात बडा ही घातक होता है। चिन्ता और शोक ने प्रकाश की शारीरिक स्थिति को खतरे मे डाल दिया। फिर भी उसने नित्य के स्नान और उपासना को न छोडा। एक दिन इसी प्रकार वह पूजन कर रहा था। उपासनागृह का द्वार खुला था। प्रकाश की माता की दृष्टि सहसा उधर पडी तो वे चौंक पडीं। उन्होंने प्रकाश के पिता को धीरे से बुलाया और कहा—"उस कमरे मे देखो।"

पिता—क्यों, क्या है?

माता—वह जो, प्रकाश के बहू की तसबीर। यहॉ कैसे? तो क्या……तो क्या……ओह! परमात्मा……मैं क्या देख रही हूॅ?

पिता—क्या तुम्हारे कहने का यह मतलब है कि हम प्रकाश के ही अतिथि हैं ?

माता—देख नहीं रहे हो ? इसका मतलब क्या है ? भगवान् मेरी आँखे इतने दिन कहाँ चली गई थी ? परमात्मा ·····और वे सज्ञाहीन हो कर चारपाई पर गिर पड़ी। प्रकाश के पिता चिल्ला उठे। प्रकाश भी घबडा कर उपासना से उठ आया और उन्हे होश मे लाने का प्रयत्न करने लगा। उपचार करते हुए प्रकाश ने देखा—पिता की दृष्टि निरन्तर कमला की तसवीर की ओर लगी हुई है। एक बार स्फुट स्वर में उनके मुँह से निकल पड़ा—"प्रकाश की बहू।" और साथ ही साथ आँख से दो बूँद आँसू। प्रकाश चौंक पड़ा। तो क्या उसका भेद खुल गया ! ओह ! पिता माता के सामने इस रूप में ! क्या अब वह उनके सामने सिर उठा सकेगा ! ईश्वर, इस अन्तिम अवस्था मे भी क्यों इतना दारुण कष्ट दे रहे हो ! क्या वह एक अन-जान की भाति शान्ति के साथ नही मर सकता था ? उस का हृदय अत्यन्त व्याकुल हो उठा। सिर चक्कर खाने लगा। इस आकस्मिक आघात से उसका चित्त उद्विग्न हो गया। बीमारी का वेग बढ गया। उसे ऐसा जान पडा कि अब उसका अवसान समीप है। वह दौड़ कर अपने अध्ययन के कमरे मे घुस गया और दरवाजा भीतर से बन्द कर लिया।

इसके बाद का हाल एक पत्र में था। वह "दलित कुसुम" या रतन का लिखा हुआ न था। बल्कि उसके किसी मित्र का लिखा हुआ था। वह, पत्र ज्यों का त्यों प्रकाशित है—

"सम्पादक जी,

"प्रकाश बाबू ने यह लिफाफा अपनी मृत्यु के दो दिन पूर्व मेरे पास भेजा था। साथ मे उनका यह पत्र था"—

"प्रिय ..... .

"तुम्हारे पास यह लिफाफा भेज रहा हूँ क्योकि तुम्ही मेरे विश्वास-भाजन हो। मेरी मृत्यु के बाद इस लिफाफे को "जीवन" के सम्पादक के पास भेज देना। मैं बहुत दुखी हूँ। जीवन की एक भूल का ऐसा भीषण परिणाम ! अब तो इस यातनामय जीवन का अन्त ही अच्छा है। .. .. आह ! मेरे जीवन की कहानी "शीर्षक-हीन" ही रह गई ! सस्नेह—

तुम्हारा–प्रकाश"।

इस पत्र को पा कर मुझे बड़ी चिन्ता हुई। मैं प्रकाश के घर गया किन्तु वह शायद अपनी माता की दवा के प्रबन्ध के लिये कही और ही चला गया था। उसके पिता ने सब हाल मुझे बताया। उन्होने यह भी कहा कि प्रकाश की हालत इस समय बहुत खराब है। मैंने देखा—उसकी माता की तबियत भी अच्छी न थी। पिता बाते तो कर रहे थे किन्तु उनके होश उडे हुए थे। आँखो मे बादल उमड रहे थे। रह रह कर बरस जाते। उनको यही अफसोस था कि इतने दिनो के बाद उन्होंने प्रकाश को पाया भी तो इस हालत मे। माफी माँगने लायक भी तो व नही रहे। प्रकाश के पिता पश्चात्ताप की प्रतिमा हो रहे थे।

उस दिन दोपहर को प्रकाश लौटा। मैं भी पहुँच गया। उसने मेरी ओर एक भावपूर्ण दृष्टि से देखा—उस दृष्टि मे वेदना और पीड़ा

की अनन्त छाया थी—आँसू भरे हुए थे। मेरा हृदय उसकी इस दशा पर टुकडे टुकडे हो रहा था। आह! जीवन की एक मामूली सी भूल—उसका इतना दुखद परिणाम—मानव-जीवन कितना दुखी है।

उसने माता के उपचार का कितना ही प्रबन्ध किया किन्तु प्रति क्षण उनकी दशा खराब होती गई। शाम को शायद पुलिस के सब-इस्पेक्टर (Sub-Inspector) ने उसे बुलाया था। वहाँ से जब वह लौटा तभी से उसकी भी दशा बहुत उद्विग्न हो रही थी। वह अशक्त सा होकर माँ के पास ही पड़ गया। उसके पिता तो सज्ञा-शून्य से बैठे थे। अपने सामने ही अपने अपराधो का यह परिणाम देखकर उनकी अन्तरात्मा लज्जा, सन्ताप और वेदना से तडफड़ा रही थी। मैं प्रकाश और उसकी माता के उपचार मे लगा हुआ था। प्रकाश ने धीरे से मुझे कह दिया—"भाई ·· ··यह दीपक की अन्तिम ज्योति है। मुझ मे अब इतनी शक्ति नही रही कि मैं अपनी ही आँखो के सामने अपने माता पिता की यह दशा देख सकूँ।" मेरा हृदय रो रहा था। किन्तु बुझते हुए दीपक को पुनर्जीवित करने की शक्ति मुझमे न थी!

रात जागते कटी। दिन निकलने के साथ प्रकाश की माता की तबियत बहुत खराब हो गई। वही अन्ति यवनिका थी। उन्होने क्षीण स्वर मे कहा—"प्रकाश बेटा, अपनी आँखो के आगे तेरे इस अन्त को देख कर भी क्या मेरी आँखे खुली रह सकती हैं? और जब मैं यह सोचती हूँ कि यह सब मेरे ही पापों का · ··"

"माँ, माँ" प्रकाश चिल्ला उठा, "माँ, मुझ पर दया करो। कृपा कर के अपने मुँह से ऐसी बातें न कहो—मुझे अपराधी न बनाओ, माँ !"

"बेटा, मैं क्या जानती थी कि ······बेटा, मुझे क्षमा करो··· ·· यही मेरा अन्तिम अनुरोध······"

"माँ, माँ, क्यों मुझे अपराधी बना रही हो ! दया करो अपने अभागे बच्चे पर, मेरी अच्छी माँ !"

किन्तु प्रकाश की इस बात को सुनने के लिये माँ कहाँ थी। प्रकाश पागल सा, विक्षिप्त सा अपनी मृत माँ के पैरो में लोटने लगा और बच्चों की तरह फूट फूट कर रोने लगा। प्रकाश के पिता की आँखो मे आँसू न थे। वे तो शून्य नीरव दृष्टि से आकाश की ओर देख रहे थे। कितनी करुण थी उनकी दशा ! मुझसे यह दृश्य न देखा गया। उठ कर बाहर चला आया।

बाहर आकर मैंने देखा—पुलिस के सब इस्पेक्टर दो सिपाहियो के साथ खड़े हैं। मैंने धीरे से जाकर प्रकाश के कान मे यह बात कही। उसके मुख पर चिन्ता की रेखा खिच गई। उस समय उसका दम टूट रहा था। वह उठे उठे, इतने ही में पुलिस के सिपाही अन्दर आ गये। प्रकाश के पिता एक बार चौंक पडे और फिर उठ कर उन सिपाहियों के पास आ गये। उन्होने कहा—"आज मैं इस परिणाम के लिये तैयार था।" फिर उन्होंने प्रकाश से कहा—"बेटा प्रकाश, अगर हो सके तो मुझे क्षमा करना !" प्रकाश बच्चो के समान रो पड़ा। "बाबू जी, बाबू जी" कह कर वह उनके पीछे दौडा लेकिन

पैर लड़खड़ा गये। अपनी माता के चरणों के पास ही वह भी वेदना की एक अन्तिम आह के साथ अतीत में विलीन हो गया। उसके पिता ने एक हसरत भरी दृष्टि उन दोनों पर डाली और चुपचाप सिपाहियो के साथ चले गये।

मैं यह सब दृश्य देख रहा था—पत्थर की मूर्ति की तरह! क्या ऐसा दयनीय अन्त भी किसी का होगा—इतना दुख भरा—इतना हृदय-विदारक—इतना करुण—इतना विषादमय! उस दिन मैं रोया—जीवन मे इसके पहले शायद ऐसा न रोया था!

आप का

....

मैं भी सोच रहा था—क्या ऐसा दयनीय अन्त भी किसी का होगा। पता नही "जीवन" की प्रति कब मेरे हाथों से छूट कर ज़मीन पर गिर पड़ी!

मरीचिका

१

जीवन की पगडण्डी पर दो व्यक्ति—स्त्री और पुरुष—चले जा रहे थे। गिरते-पडते, आशा-निराशा के झोके मे झूमते, जीवन-सागर की तरगों पर नृत्य करते, महत्वाकाचाओं के मनोहर स्वप्न रचते, धुँए के अम्बार मे पॉव रखते, हवा मे उछलते कर्म के मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे।

प्रेम—यही उनके जीवन का सकल्प था—सृष्टि की उनके हृदय में लालसा न थी।

जीवन की पगडण्डी पर गिरे पडे काटों को फूलों की पखुडियाँ मान कर बिना चूँ किये, नीचे झुकी हुई आँखों मे मन्द मन्द मधुर हँसी भर कर वे चले जाते। मुँह पर अविरल माद मधुर हास्य—गुलाबी कपोलों पर सुन्दर स्वास्थ्य की रक्तिमा—मृगशावक की सी चपल दो आँखे—मस्तक पर कलापूर्ण सजे हुए केश। पुरुष के अग पर खादी

की कफनी—स्त्री के शरीर पर सौभाग्य की साड़ी—उसका अचल हवा मे इधर उधर लहरा रहा था।

ससार ने इन दोनों को तग हो कर त्याग दिया था। जगत् में—समाज में उन्हे तिरस्कार ही मिला था।

जीवन के दिन उनके लिये विषमय हो रहे थे। दुनिया ने उनका तिरस्कार किया था—क्यों? उनकी महत्वाकाक्षाओ की अग्नि मे जलता हुआ विश्व उन्हे उनकी बडी बडी अभिलाषाओ का बदला दे रहा था न! उसी तिरस्कार और घृणा के बीच उन्हे—दोनों को—अपने जीवन का जटिल मार्ग तैयार करना था। यौवन का धर्म ही यह है।

पुरुप ने अध्ययन द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। सूर, तुलसी, कबीर और विहारी उसके आदर्श थे। उनकी कृतियों पर वह मस्त था। उनकी अनन्त कल्पनाओ के सागर मे वह गोते लगाता। उनमे से नया कर्म-प्रदेश तैयार करने के लिये वह मधुर स्वप्नो की रचना करता। वही जगत् 'नासमझ' कह कर उस पर हँसता। दुनिया को उसके इन स्वप्नो मे पागलपन, यौवन की मस्ती, और तूफान दिखाई देता।

किन्तु उसके साथ की एक रूपवती बाला ने उसके भावों को पहचाना। दोनो मे परस्पर प्रेम सम्भाषण हुआ। हृदय ने एक दूसरे को अपनाया। लेकिन पुरुप गरीब था। उसके कुटुम्ब मे भी शायद उसके सिवा और कोई न था।

स्त्री अच्छे घराने की लड़की थी—कुल भी ऊँचा। पुरुष का कुल-गौरव उतना श्रेष्ठ न था। कुलीन और अकुलीन का प्रश्न आज के समाज को रौंद रहा है। इसके जाल को छिन्नभिन्न कर के आगे पैर बढ़ाने को आज शायद ही कोई युवक तैयार हो। कहीं कहीं अवश्य इस प्रगतिशील युग में ऐसे युवक मिल जाते हैं जो इसकी सीमा को तोड़ फोड़ कर प्रेम के ही रग में शराबोर हो जॉय। उस समय समाज में खलबली मच जाती है। यही स्थिति इन दोनो की भी थी।

पुरुष महान् आदर्शवादी, महत्वाकाङ्क्षी कवि और कलाकार था। नये नये स्वप्न तैयार करता—नई नई कल्पना की मूर्तियाँ बनाता—नई सृष्टि, नई दुनिया, नया आकाश तैयार करके आनन्द और उन्माद से नृत्य कर उठता।

ससार की उसे परवाह न थी।

स्त्री उसी के पीछे उन नई कल्पनाओं का आनन्द उठाती हुई जीवन के पथ पर अविचल गति से अग्रसर हो रही थी।

२

आकाश पर धूम्र-शिखायो के समूह उड़ते, इधर उधर दौड़ते। श्याम वर्ण बादल गिरिश्रृङ्गों का आकार धारण कर सारे आकाश को आच्छादित कर लेते। कोई कोई बाघ, सिंह या हरिण का आकार धारण करते। युवक उन दिव्य भव्य स्वरूपों की ओर देखता—देख कर खिलखिला कर हँस पड़ता। उसकी स्वप्न-सुन्दरी उसी के पीछे

पीछे खड़ी उसकी बिखरी अलकों को सँभालती—उसकी उँगलियाँ प्रियतम की उँगलियों पर प्रेम से नृत्य करतीं।

पुरुष कल्पना-पथ पर गगन-गामी स्वप्नों की रचना करता—नये नये भावो का जाल बुनता। कल्पना की उड़ान में ऊँचे से ऊँचे पहुँचने के लिये आकाश से होड लगाता।

स्वप्न-सुन्दरी अवाक् हो जाती। वह आकाश-पट पर अपनी दोनों आँखें लगा कर विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखती। उसे ऐसा जान पड़ता जैसे वह भी पुरुष के पीछे पीछे गगन पथ पर उड़ रही हो। वायु उसके अचल के छोर पर अभिनव नृत्य करती। कल्पना के क्षेत्र में वे पृथ्वी और आकाश दोनों ही जगह मस्त रहते। स्निग्ध मधुर वन-श्री महक उठती। मन्द शीतल पवन चारो ओर आह्लाद का सृजन करता। पक्षीगण उन्मत्त हो कर गा उठते।

निर्जन बन। बन-पशु इधर उधर दौड़ते। प्रलयकारी गर्जन से दिशायें काँप उठती। उसकी भीषण आवाज से मानवहृदय का साहस बेकाम हो जाता। किन्तु ये दो मस्त जीव स्वप्नस्थ योगी की भाँति निःशक विचरण करते। उनके स्वप्न का लोक सदा आनन्दमय था। उसमें भय या राग-द्वेष का काम नहीं था। उनका यौवन रस-मस्ती से परिपूर्ण हमेशा खिला हुआ रहता। दोनों ने जीवन को पूर्ण रूप से देखा था। किन्तु दुनिया ने उन दोनों को हैरानी और कष्ट के अतिरिक्त और कुछ न दिया। उसकी समझ मे वे दोनों ही बेकार थे—समाज के लिये भार थे।

पुरुष अपनी स्वप्न-सुन्दरी को सुखी करने का सतत प्रयत्न करता। उसके लिये नई नई रसमयी कल्पनाओ का सृजन करता। गिरते पडते महान् साहस और धैर्य के साथ कल्पना की महीन डोरी के सहारे उसे ऊँचे से ऊँचे आनन्दमय लोक की ओर ले जाने का प्रयत्न करता। किन्तु इस जोडी के लिये जैसे विभु ने कोई नवीन सृष्टि रची ही न थी!

३

सन्ध्या का समय था। युवक बैठा हुआ नई जीवनकला, नये काव्य-निकुजो मे खेल रहा था। उसकी आत्मा गगन-मडल मे विचरण करने लगी। कल्पना के विमान पर वह ऊँचे अनन्त नील गगन मे बिहार करने लगा।

कवि ने आँखे बन्द कर ली। उसके हृदय मे एक अग्नि सुलग रही थी। उसकी जीवन-सहचरी उसके पास ही बैठी एकदम उसकी ओर देख रही थी।

कवि ने काव्य की कड़ियाँ तैयार करके दिव्य सगीत की तान छेडी। सुन्दरी मस्त होकर सुनने लगी। जगत् स्तब्ध हो गया। पक्षीगण शान्त होकर स्थिर भाव से उस सगीत को सुनने लगे। आकाश निर्मल काँचन-वर्ण होता जा रहा था। सृष्टि मे एक दिव्य आलोक सा उतर रहा था। मोह, मत्सर, राग, द्वेष सब उस आलोक मे भस्म हो रहे थे। एक दिव्य आनन्द की वारुणी सारी सृष्टि को अपनी मादक रक्तिमा मे रग रही थी। मानव-हृदय उत्फुल्ल होकर प्रेम की मस्ती में झूम उठा। अखिल सृष्टि में एक अभिनव भाव का उदय हुआ—प्रेम, आनन्द, मस्ती।

स्वार्थ ने देखा—कवि के जगत् मे उसके लिये जगह नही। सारी सृष्टि में भटक आया—कवि के मधुर सगीत की मूर्च्छना मे अखिल लोक प्रेम की उन्मद भावना से झूम रहा था। सोचा—यही उसके विनाश का कारण—सृष्टिकर्त्ता की विचित्रताओ को बिगाड़ने वाला है। वह चुपके से उठा—कवि की कल्पना के विमान की डोरियॉ उसने धीरे से काट दी। विमान तीव्र वेग से नीचे की ओर गिरने लगा। स्वप्न-सुन्दरी भय से चीत्कार कर उठी। 'कवि कवि' की पुकार करती हुई वह युवक से लिपट गई। उनके आनन्द का महल ढह गया। कवि चौक पडा। दुनिया भी जैसे किसी मधुर नींद की मस्ती से जाग उठी।

कवि ने अवाक् हो कर देखा—स्वार्थमय ससार इस आनन्द प्रेम मय जीवन के अवसान पर खिलखिला कर हॅस पडा। कल्पना रोती ही रह गई—हृदय की प्रेममयी, सगीतमयी भावनाये हाहाकार करती ही रह गई। उसने सोचा—मायामय की यह कैसी माया है। सारा ससार मरीचिका के पीछे दौड रहा है। और·····और अब तक शायद वह भी मरीचिका की तलाश मे ही दौड लगा रहा था!

वियोगिनी

तो कहाँ गया वह ?

हृदय का हीरा—उछलते हुए मन को सयम के अमृत से सींचने वाला—परिमल भरे पुष्पो का पराग—हृदय की पगडण्डी पर नृत्य करता हुआ चिर मयूर—अन्धकारमय हृदय के कोने कोने को प्रोद्भासित करने वाला प्रभामय अशुमान !

× × ×

उज्वल आभा से परिपूर्ण शरद-पूर्णिमा का चन्द्र ससार को अपनी ज्योत्स्ना से नहला रहा था। हृदय-मन्दिर मे काजल के समान कालिमा छाई हुई थी—उसमें भी एक तेजोमय प्रकाश ने प्रवेश किया। वह प्रकाश अमाप था—अनन्त—अमित। आह ! आज तो वह भूतकाल में समा गया। हृदय में उसका वर्तमान आज भी हाहाकार मचा रहा है।

हृदय के कोने कोने ने आत्म-विभोर हो कर जिसे अपना लिया था—आँखों ने आँखों ही में जिसे कैद कर लेना चाहा था—और फिर आत्मा ने आत्मा को पहचाना।

पर, आज मेरा भाग्य,... ..आह !

कितने ही कमल-पत्र के समान ओष्ठ उसके अधरों से मिलने के लिये तरसते रहे होंगे—कितने ही हृदयों से, उसे दूर से ही देख कर, एक निःश्वास निकल गया होगा—कितने ही पद्म-नाल के समान हाथ उस के गले से लिपटने के लिये फड़क कर रह गये होंगे—कितनी ही सौन्दर्य की प्रतिमाओं की रसभरी आँखे उसकी सौन्दर्य-सुधा का पान करने को ललचा कर रह गई होंगी।

पर......

मैं भी कितनी भाग्यशाली थी। हृदय की प्रोज्वल प्रभा के प्रकाश में उसने मेरे प्राणों को पहचाना। मैं उसकी हुई—वह मेरा हुआ। युग-युग की लालसा—आशा के तार पर अटकी हुई दो घड़ियाँ एक हुई। और दोनो आत्माये एक अनोखे बन्धन में बँध गई।

उसे देख कर आँखे नाच उठतीं—हृदय वेग से धड़कने लगता—न जाने क्यो। उसके समीप रहने को हृदय ललचाया करता। उसके आलिंगन में रह कर मृत्यु के गले लगना भी स्वीकार होता। उसके घुँघराले काले केशों मे यदि अग्नि भी भरी होती तो उस पर हाथ फेरते हुए सुख की ही प्राप्ति होती।

और भूला नहीं अपना वह मधुर रस भरा जीवन। आह ! मुझ से तो नही भूला जायगा—मृत्यु के बाद भी—युगो के बाद युगों

तक भी। उसके हृदय की स्नेह भरी सुरभि में हृदय-मधुप मस्त ही रहता।

पर आज!

आज तो ये सूनी सी स्मृतियाँ—किसी महान् व्यक्ति की कृतियो के अवशेष के समान—किसी भस्मीभूत नगर के खण्डहर के समान!

ग्रीष्मकाल की गर्मी से मैं व्याकुल हो ज ती—मेरे माथे पर स्वेद की बूँदे झलकने लगतीं। उस समय वह आता—स्नेह की मधुभीनी सुरभि से हृदय मस्त हो जाता—जलते हुए जीवन मे शीतलता आती। प्रस्वेद-बिन्दुओं से भरे हुए मेरे ललाट पर वह स्नेह-पूर्वक हाथ फेरता।.........आह! उस स्पर्श की कोमलता—उसकी मिठास! समुद्र-मन्थन करके देवताओं द्वारा प्राप्त किये गये अमृत से भी अधिक! कम हो जाती हृदय की वह व्याकुलता—आत्मा मे छा जाती प्रेम की तरलता। हृदय एक को एक आत्म-समर्पण करता। जान पड़ता—वृन्दावन की सघन हरियाली कुंजो मे हमारे ही स्नेह की सुषमा है—अखिल सृष्टि में सुरभि फैल रही है हमारे ही प्रेम-पुष्प की—शेफालिका मे समा रही है हमारे ही अगो की कोमलता।

और आज.........आज यह सब नहीं सहा जाता—नही भूलती है अपनी बसाई हुई वह नई दुनिया!

आज वह नहीं है—मैं वियोगिनी अकेली पडी सिसक रही हूँ। जब तक वह था तब तक मैंने किसी की अपेक्षा ही न की। उसके हृदय का मुझे भरोसा था।

और उसके बाद मुझे किसी ने नहीं पूछा। किसी को क्या पड़ी थी। ससार के लोगों को तो अपनी अपनी चिन्ता है। वर्षों बीतने पर आज मुझे चेत हुआ है। आज ससार के कोने कोने को आँसुओं से प्लावित करती हुई मैं कहती हूँ—'तू था—तू मेरा था।' उस दिन कहा था—'तू मेरा है,' और आज—'तू मेरा था!' कल और आज—भूत और वर्तमान। जीवन क्या है? भूत या वर्तमान?

× × ×

आज मैं तुझे खोजती हूँ और खोजूँगी उस समय तक जब तक पैरो के रेशे-रेशे न फट जायँगे। देश देश मे मैं रट लगाती हूँ और पूछती हू—सबसे पूछती हू—रास्ते के पत्थर से, पेड़ से, पृथ्वी से, पशु से, पक्षी से, मनुष्य से, वायु से, अग्नि से—

"कहाँ गया वह?"

"यह रहा"—सभी उत्तर देते हैं।

"कहाँ"—आशान्वित हो कर मैं पूछती हू।

"यहीं"—फिर वही जवाब! ससार मुझे पगली समझता है—मेरी हँसी उडाता है—मुझे सताता है।

"यहाँ तो मुझे कहीं नहीं दिखाई देता"—व्याकुल हो कर मैं सब से कहती हू।

"यहीं है—पर नूतन वेश मे।"

"कहाँ?"

"जल मे, जमीन में, वृक्ष में, पुष्प में—"

……आह ! संसार ने मुझे क्या समझ रक्खा है ? क्या मुझ मे इतनी भी बुद्धि नही है ? क्या बुद्धि का ठीका इन्हीं लोगो ने ले रक्खा है ?

"वह तो सर्व-व्यापी हो गया है"—कोई मुझसे कहता है और मैं खूब चिढ जाती हूँ। वे कहते हैं—वह सब जगह है। पर मैं इसे क्यों नही देख सकती ? झूठ—सारा ससार झूठ कह रहा है। जगत् कह रहा है वह झूठ—देखता है वह भी झूठ !

ससार मुझे आश्वासन देता है। लेकिन इतना सा आश्वासन किस काम का। अगर तू है और सर्वव्यापी है तो मेरे पास तू क्यो नहीं है ? मैं क्या ससार से बाहर हूँ ? तेरा यह विह्वल सा वियोग मुझे क्यो जला रहा है ? हृदय का साहस क्यों क्षीण हो रहा है ? देह की चचलता क्यों उडी जाती है ? जीवन एक उजाड़ नगर सा क्यो जान पडता है ?

अपना वह अजोड़ प्रेम—उसमे एक अलौकिकता भरी थी। प्रेम तो अन्तरिक्ष में भी पलटा देता है। और तू ? तेरा नाम रटते रटते कण्ठ सूख गये पर तेरा आभास तो मुझे न मिला—न-हीं मिला।

मैं फिर रो पडती हूँ। जगत् से पुकार पुकार कर पूछती हूँ—

"कोई तो बताओ—वह कहाँ है !"

"यहीं"—सब एक साथ बोल उठते हैं। मालूम होता है मैं पागल हूँ। लोग मुझ पर खिलखिला कर हँस पडते हैं। मैं क्षोभ से पागल सी हो उठती हूँ। फिर से पुकार उठती हूँ—"कोई बताओ—वह कहाँ है।"

अनन्त में मेरा यह स्वर गूँज उठता है। इसकी प्रतिध्वनि हर जगह फैल जाती है। कब तक मैं इस प्रकार पूछा करूँगी? सृष्टि के प्रलयकाल तक मेरा यह प्रश्न ससार जरूर सुनेगा। मेरी पुकार अमर रहेगी।

"जीवन-तत्व जीवन मे ही घुल-मिल गया"—किसी ने जवाब दिया।

"तो क्या मेरे जीवन नही है? मैं तुमसे पूछती हूँ।"

"है।"

"तो मुझमे वह क्यों नही है?"

"तुममे भी है।"

और मैं क्रोधित हो कर एक पत्थर ले उसे मारने दौडी।

"मुझमे है? अगर होता तो मुझे सुख और शान्ति की कमी न रहती—तो मैं इम प्रकार व्याकुल होकर भटकती न फिरती—मुझे उसका वियोग इतना न सताता।" और पत्थर की मार खा कर वह भाग गया।

सारा विश्व एक ही उत्तर देता है। जगत् और जानता ही क्या है! झूठ के अतिरिक्त उसे और सुहाता ही क्या है! उसके चर्म-चक्षुओं को और दिखाई ही क्या देता है! क्या एक कहता है—"गया हुआ यही दूमरे मे समा जाता है।" यह झूठ भरा सत्य (!) ही उसे पसन्द है। जगत् में आखिर मौलिकता है या नही!

फिर मैं क्या क्या बक गई यह कह कर मैं किसी को दुखी करना नहीं चाहती। दुनिया ख़ुद ही जली हुई है—अपने दुःख की ज्वाला में मैं उसे और नही जलाना चाहती।

× × ×

वासन्ती तेज मे हरी भरी कुजें चन्द्र की ज्योत्स्ना मे नहा सी रही हैं। और मैं ? मेरे चारो ओर तो उसके वियोग की ज्वाला धधक रही है। मैं कहाँ जाऊँ ? किससे पूछूँ ? क्या करूँ ?

और एक दिन प्रातःकाल।

एक आदमी आया। सिर खुला हुआ—बदन पर कुर्ता और धोती—मुख-मुद्रा गम्भीर—ज्ञान से छलकते हुए से नेत्र। उसके पीछे और भी कितने ही थे—ससार के फिलॉसफर।

एक से मैंने पूछा—"वह कहाँ है ?"

"यहीं"—उसने भी मूर्खता से भरा हुआ उत्तर दिया।

"मुझे दिखाओगे ?"

"मेरे साथ आओ।"

मैं तैयार हुई। मुझे आनन्द सा हुआ—न जाने क्यो। तू मुझे मिलेगा—जरूर मिलेगा—इस आशा से मुख पर स्मित सी छा गई।

वह मुझे दूर ले गया—एक बडे घर के पास। वहाँ का वातावरण गम्भीर था—फ़िलॉसफ़र के मुँह की तरह। इधर उधर से वह कुछ

लकड़ी बटोर लाया। लकडियो के छोटे से समूह में उसने दियासलाई लगा दी। मुझे जान पड़ा—शायद तू अग्नि में से ही निकल आवे। मेरा हृदय वेग से धड़कने लगा। पर……

लकड़ी सब जल गई पर तू तो नहीं आया। मैं निराशा में डूबी सी जा रही थी। उसने पूछा—"यह क्या है ?"

"अग्नि"—मैंने उत्तर दिया।

"पहले यह क्या थी ?"

"लकडी।"

"निश्चय-पूर्वक कहती हो ?"

"हाँ।"

वह उठा। घर में से पानी ला कर अग्नि पर डाल दिया और फिर मुझ से पूछा—"अब यह क्या है ?"

"कोयला।"

"निश्चयपूर्वक कह रही हो ?"

"हाँ।"

"वे लकडियाँ यहीं हैं—ऐसा कहूँ तो ?"

"पागल के सिवा मैं तुम्हे और कुछ नहीं कह सकती।" मैं रो पडी। फिलॉसफर पर से मेरा विश्वास उठने लगा।

"अच्छा, अब मैं तुम्हे समझाता हूँ। लकडी यहीं रूपान्तर होकर पडी है। उसी प्रकार जिसे तुम खोज रही हो वह भी यही है। पर

मनुष्य न देख सके ऐसे मृत्यु के पर्दे के पीछे वह छिपा हुआ है। उसका नाश तो नहीं हुआ है।"

मैं नाराज हो गई। कोयलो को लेकर मैंने पानी के साथ पीस दिया।

"अरे, यह क्या ?" फिलॉसफर ने पूछा।

"लकड़ी यही है—अग्नि प्रज्वलित करो।"

"कोयलों को तो तुमने पानी से पीस दिया।"

"नहीं, यहीं हैं। दूसरे रूप मे। उपयोग करो।"

फिलॉसफ़र की बोलती बन्द हो गई।

और अचानक मुझे सुन पडा—"ईश्वर—सर्वव्यापी, निराकार और सब में वर्तमान है।"

दूसरों मे समा रहने का क्या मतलब ! अपने ही स्वरूप मे क्यों नहीं दिखाई पड़ता ?

ससार कहता है—"ईश्वर यही है—सब मे है।" तू भी यही है—सब में है। तेरे लिये भी सारा ससार यही कहता है। पर मैं न तो तुझे देख सकती हूँ और न ईश्वर को। तो क्या तेरे विषय मे जैसे ससार झूठ बोल रहा है वैसे ही ईश्वर के बारे मे नहीं बोल सकता ? पर ईश्वर की सत्ता तो जर्रे जर्रे में दिखाई पड रही है और तेरी छाया तो सिर्फ़ मेरे अन्धकारमय हृदय में।

और फिर मुझे तेरी याद आई। मैं पुकार उठी—"कोई बताओ—वह कहाँ है ?"

"यही"—अन्ध-श्रद्धा से भरा हुआ ससार कह उठता है।

मुझे तो ससार पर जरा सी भी श्रद्धा नही है और न होगी ही।

"तू कहाँ है?"

तेरे वियोग मे जलती हुई वियोगन आज तुझ से ही पूछती है। मुझे तू देख रहा है……और तेरा दर्शन !

जब तक तू नहीं मिलेगा तब तक इसी प्रकार जलती रहूँगी। तेरी खोज मे हिला डालूगी सारे ससार को अपनी मर्मान्तक पुकार से—डुबा दूँगी अखिल सृष्टि को अपने आँसुओ की झड़ी मे !

क़ैदी

१

आवारागर्दी की भी एक हद होती है लेकिन चौधरी की लड़की की शरारतो के मारे पडोसियो को चैन मिलना कठिन हो रहा था।

लक्ष्मी उसका नाम था मगर प्रकृति विचित्र। गॉव के हाल चाल उससे पूछ लीजिये—किसके बागीचे मे खूब आम पके हैं, किस पेड़ की डालियाँ गुलाबी सेवों के भार से टूट रही हैं, इत्यादि। ग्यारह वर्ष की लड़की—साड़ी के छोर को अच्छी तरह कसे हुए—अदम्य उत्साह और चचल साहस—इस बात की परवाह भी न थी कि दूसरे लोग उसके बारे मे क्या सोचते या कहते हैं।

नदी मे दूर तक तैर जाना, खेल खेल मे पेड़ों की टेढी मेढी डालियो पर फुदकना उसकी साधारण चचलताये थीं। कभी कभी तो उसकी सहेलियाँ उसकी जान तक के लिये भयभीत हो उठतीं।

लाठी का अभ्यास करते करते कई बार उसने लापरवाही के कारण अपने साथियों मे से एक दो को घायल तक कर दिया था।

पड़ोसियों ने उसके कई नाम निकाल रक्खे थे। बहादुर, डाकू, आवारा, पुरुष, अभागी, बदमाश इत्यादि कितनी ही ऐसी बातें लोग उसके बारे में कहा करते थे। वह चुपचाप सब सुन लेती क्योंकि ऐसी बातें उसे अपने रोजमर्रा के जीवन में कई कई बार सुननी पड़ती।

अभी उस दिन की बात है। भोजन के पहले लक्ष्मी की माँ रसोई का काम खतम करके थाली सजा रही थी कि सामने की सहन मे माथुर परिवार की पुरखिन का क्रोध भरा शब्द सुन पड़ा। लक्ष्मी की माँ भी उनके इस आकस्मिक क्रोध का कारण जानने की इच्छा से घर के बाहर निकल आई। अपने सिर को इधर उधर हिलाते और हाथो को नचाते हुए पुरखिन ने कहा—"तुम अपनी लड़की पर शासन नहीं रख सकतीं? तुम्हारी लक्ष्मी और उसकी सखियो ने मेरे पेड पर एक भी आम न छोडा। अगर भर पेट खाने को उन लोगों ने लिया होता तो मुझे कुछ कहना नही था लेकिन उन्होंने तो सब का सब सड़क पर इधर उधर फेंक दिया। यह भी कोई लडकपन है! कितनी बुरी आदत है।"

लक्ष्मी की माँ ने गम्भीर भाव से लक्ष्मी को पुकारा। इस पर पुरखिन ने खीस निकाल कर कहा—"क्या तुम सोचती हो वह यहाँ है?" लक्ष्मी की माँ ने गरम हो कर पूछा—"तो आखिर वह कहीं होगी भी?" "होगी राय बाबू के तालाब पर," पुरखिन ने भावपूर्ण मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया, "वही उसकी प्रिय मनोरंजन की जगह

है ।" बिना और कोई बात कहे या सुने लक्ष्मी की माँ तालाब की ओर चली। पुरखिन भी साथ हो ली।

उस समय लक्ष्मी अपने हाथों बनाये हुए एक छोटे से घर पर मिट्टी का प्लास्टर लगा रही थी। उसके मुँह से रह रह कर आनन्द की किलकारी निकल पडती। वह पुष्पा, अनीता और दूसरी लड़कियों को भी अपने पास बुला रही थी क्योंकि वह अकेली थी। जैसे ही उसने अपनी माँ को आते देखा उसके हाथ रुक गये। माँ गुस्से से चिल्लाई—"लक्ष्मी" ! और साथ ही साथ लक्ष्मी की सखियाँ इधर उधर छिप गईं।

२

उसके कई दिन बाद लक्ष्मी अपनी दो साथिनों के साथ उस अधूरे घर को खतम कर रही थी। उसी ओर से पण्डितानी जी कुछ काम से जा रही थीं। लक्ष्मी को वहाँ देख कर वे आश्चर्य से रुक गईं और बोलीं—"तू कैसी बेशर्म लड़की है, लक्ष्मी ! अभी उस दिन तेरी माँ ने तुझे इतना डाँटा था और आज तू फिर यहाँ आ गई ?"

मगर लक्ष्मी ने उसी तरह ढिठाई से जवाब दिया—"माँ ने मुझे यहाँ आने के लिये नही डाँटा था। मैंने माथुर साहब के आम के पेड़ पर डाका डाला था इसलिये उसने मुझे बुरा भला कहा था।"

पण्डितानी जी भी पीछे हटनेवाली न थीं। उन्होंने कहा—"ठीक है, ठीक है। तुझे इसी लिये सजा मिली होगी लेकिन क्या तुझे भविष्य में अपने कपड़े कीचड़ से गन्दे करने के लिये मना न किया गया था ?"

एक क्षण के लिये लक्ष्मी चुप हो गई। फिर चिढ़ कर बोली—"हम लोग इस घाट पर आना बन्द न करेंगे। इसका नतीजा कुछ भी हो—हमें परवाह नहीं।"

पण्डितानी जी आग हो गईं। पैर पटक कर उन्होंने कहा—"तेरी इतनी गुस्ताखी। मैं जा रही हू अभी तेरी माँ के पास।" और वे जल्दी जल्दी चल पडी। लक्ष्मी ने पीछे से चिल्ला कर कहा—"तुम्हारे मन में आवे वह करो। यहाँ डर ही किसे है।"

पण्डितानी जी के जाने के बाद लक्ष्मी ने सोचा कि अभी उसकी माँ वहाँ अवश्य आवेगी। उसने घर समाप्त होने की आशा छोड़ दी और अपने साथियों से वहाँ से भाग चलने के लिये कहा। पुष्पा ने टाल मटोल की और भागने का कारण पूछने लगी। अनीता ने हैरानी के साथ कहा—"क्या तू नहीं समझती?" तीनो तब यह सोचने लगी कि भाग कर कहाँ छिपना चाहिये। इतने ही में लक्ष्मी की माँ की बोली सुन कर सभी चौंक पडे। पुष्पा और अनीता फौरन भाग गईं।

लक्ष्मी ने जल्दी से अपने हाथ पैर धोये और निर्दोष जैसी माँ के पास जा कर खड़ी हो गई। माँ ने कहा—"जल्दी कर, लक्ष्मी। हाथ पैर धो कर साफ कर ले। कुछ लोग तुझे देखने आये हैं। पुष्पा की माँ से कोई सुगन्धित तेल ले कर सिर मे डाल लेना। जल्दी कर। खड़ी क्यों है?"

लक्ष्मी ने अपनी छोटी बाँहे माँ की कमर मे डाल दीं और पूछा—"माँ, वे मुझे क्यों देखने आये हैं?" गम्भीर स्नेह से भरी हुई एक घुड़की के साथ माँ ने कहा—'बेवकूफ न बन। जल्दी कर। ले यह

पैसा—साबुन खरीद लेना।" लक्ष्मी जैसे एक बार आज्ञाकारिणी सी हो गई और बिना किसी प्रकार की हीला-हवाली किये जल्दी से चली गई।

३

आषाढ़ का महीना था। आकाश मे बादल छाये हुए थे। लक्ष्मी के घर से सटे हुए बाड़े में शहनाई बज रही थी। ऐसा जान पड़ता था जैसे बाजे के स्वर मे वेदना की एक दर्द भरी आह छिपी हो। किन्तु आज रात को लक्ष्मी का व्याह होनेवाला था।

भोजन-गृह में शोर गुल मच रहा था। पड़ोसी और नातेदार लोग इधर से उधर दौड़ रहे थे। एक कोने में पास पड़ोस की तीन चार औरतें मजलिस बना कर बैठी हुई थी। दुलारी की माँ कह रही थी—"इसको कहते हैं किस्मत। समझ में नहीं आता कि इतनी बडी दुनिया में उन्होंने लक्ष्मी को ही क्यों पसन्द किया।" अनीता की माँ ने कहा—"तुम ठीक कह रही हो, बहन। वे लोग इतने बडे आदमी हैं। उन्होंने एक गरीब माँ बाप की लडकी क्यो पसन्द की। वे कलकत्ता रहते हैं और उनके बड़ी दौलत ·· ··· ··"

कहा नहीं जा सकता कि वे कितनी देर तक इसी प्रकार बातें करती। लेकिन माथुर परिवार की पुरखिन न जाने कहाँ से बीच ही में कूद पड़ी। पुरखिन ने गम्भीरता के साथ कहा—"क्या तुम सब यह समझती हो कि यहाँ बैठ कर बातें बनाने से काम चलेगा। फ़जूल वक्त बरबाद न करो। चलो, ढेर सी तरकारी काटनी है।" वह छोटी सी पार्लियामेंट इस प्रकार स्थगित हो गई।

बाडे के एक कोने में कुछ पडोसी युवक बैठे गपें हॉक रहे थे। पण्डित जी भी एक जगह बैठे शायद अपनी दक्षिणा का हिसाब बैठा रहे थे। घर में हो-हल्ला, हँसी-मजाक—यही था। मकान की छत शोर की वजह से फटी सी जा रही थी। बड़ों का हुक्म, बूढों की सलाह, युवकों का उत्साह और इसी तरह की कई बातें देखने में आ रही थी। सबसे ज़्यादा मजा बच्चों को था। कोई बाजा सुन रहा था—कोई आतिशबाजी देखने की धुन मे था—कोई मिठाई ले कर खा रहा था। एक दूसरे की चीज ले कर भागते—मार-पीट होती—शिकायत होती—लेकिन आज और दिनों की भाँति उनकी शिकायतें सुनने के लिये बड़ों की अदालत न थी। लाचार आपस में ही सुलह हो जाती और फिर हँसी खुशी।

इन्तजाम बिल्कुल साधारण था। चीजे सब सादगी से भरी हुई थी। सहानुभूति और पारस्परिकता के भाव से भरे हुए पडोसियों की उत्साह भरी सहायता—उस देहाती उत्सव में एक अजीब मस्ती सी आ गई थी।

लक्ष्मी की माँ का चेहरा हरवक्त प्रफुल्लित देखा जाता था। लेकिन उसकी हँसी के पीछे पुत्री से भावी वियोग की अनन्त वेदना छिपी हुई थी।

लक्ष्मी ने अपने छोटे से जीवन मे बहुत से विवाह देखे थे। गुड्डे गुडियो का विवाह भी कितनी ही बार अपने हाथो किया था। विवाह का मतलब वह यही समझती थी कि एक निरपराध लड़की

अनजान आदमियों द्वारा अपने प्रिय जनों की स्नेहमयी गोद से छीन ली जाती है। न वे प्रिय परिचित स्थल देखने को मिलते हैं, न स्नेह से भरे हुए साथियो का सहयोग। वह जितना देखती थी उतना ही समझती थी। वह इस बात को महसूस कर रही थी कि कुछ समय बाद उसे सब कुछ छोड देना होगा—अपने घर को, अपने सगे सम्बन्धियो को, अपने साथियों को, राम बाबू के तालाब को—जाना होगा उसे एक अपरिचित जगह को अपरिचित व्यक्तियो के ही बीच में। बेचारी लक्ष्मी—उसका हृदय फटा जा रहा था। उसका चिर-परिचित उत्साह आज उसका साथ न दे रहा था। उसकी हँसी गायब थी। उसका विचार हुआ—एक बार चल कर राय बाबू के तालाब और दूसरे प्रिय स्थानो को अन्तिम बार आँख भर कर देख आवे—बालापन के साथियो से मिल कर जी भर कर रो ले—किन्तु ऐसा होना सम्भव न था। बड़ी बूढी स्त्रियाँ उसे घेरे हुए बैठी थी। उसके जरा सा हिलते डोलते ही पण्डितानी जी कह उठती—"यह क्या, लक्ष्मी! कम से कम आज के दिन तो इतना अधीर न हो।" उनकी बोली में व्यग का आभास होता। लक्ष्मी विवश हो कर बैठ रहती।

लेकिन किसी एक जगह पर घटो तक बैठे रह जाना उसकी प्रकृति के खिलाफ था। वह विनयपूर्वक कहती—"चाची, मुझे एक बार घूम आने दो न। बैठे बैठे मेरा जी उकता गया।" इस पर पुरखिन और पण्डितानी जी बडी ही गम्भीरता के साथ सिर हिला कर कहती—"क्या ऐसा भी कहीं होता है? चुपचाप बैठी रह।" कोई कहता—"ओह, तुम्हे यों जाने देने का क्या मतलब है? हम

जानते हैं तुम फौरन राय बाबू के तालाब की ओर दौड़ जाओगी।" लक्ष्मी उनका मतलब समझ कर जी मसोस कर रह जाती।

सब तरह से हार कर लक्ष्मी का ध्यान अपनी माँ की ओर गया। वही उसकी अन्तिम आशा थी। उसने पुरखिन से कहा—"चाची, क्या एक बार माँ को मेरे पास बुला दोगी?" उसकी माँ उस समय उधर ही आ रही थी—बुलाने की जरूरत न पड़ी। लक्ष्मी ने स्नेह भरी विवशता के साथ कहा—"माँ थोड़ी देर मेरे पास बैठ जाओ न।" उसकी माँ ने एक निःश्वास के साथ जवाब दिया—"मेरी भी यही इच्छा थी, बेटी। लेकिन मुझे तो मरने की भी फुरसत नहीं है। अभी मुझे तेल वाले के पास आदमी भेजना है।" और वह शीघ्रता के साथ चली गई। इसी प्रकार खुशी उत्साह और शखध्वनि के बीच लक्ष्मी का विवाह हो गया।

बिदा के समय वह पागलों की तरह रो रही थी। उसकी माँ ने अपनी आँख के आँसुओं को जबर्दस्ती रोका और स्नेह भरे शब्दो मे सान्त्वना देते हुए कहा—"रो मत, बेटी। मैं बहुत जल्द तुझे वापस बुला लूँगी।" पड़ोस की स्त्रियों ने उसे तरह तरह के उपदेश दिये और सुखी होने का आशीर्वाद। लक्ष्मी की माँ की आँसू भरी आँखे पालकी की ओर तब तक लगी रहीं जब तक वह टेढ़ी मेढ़ी पगडण्डियों पर पेड़ो के झुरमुट मे छिप न गई।

एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर वह घर के भीतर गई। शयन गृह, बरामदा, बाड़ा, रसोईघर—सभी सूने से हो रहे थे। लक्ष्मी के जीवन की प्रिय स्मृतियाँ सभी जगह अपना निशान छोड़ गई थी। यहीं लक्ष्मी

का बचपन बीता था—इस घर का कोना कोना उसकी मधुर हँसियों से गूँज रहा था—हर जगह उसके पैरों की चपल आवाज सुनाई पड रही थी। उस शून्य नीरवता में घर का एक एक कोना जैसे लक्ष्मी की जुदाई पर आँसू बहा रहा था। लक्ष्मी की माँ अपने को और अधिक न सँभाल सकी। बेटी का वियोग उसके लिये बडा ही कष्टप्रद था। उसके सूने जीवन का वही एक सहारा थी। वह बिछौने पर पड गई और तकिये मे मुँह छिपाकर फूट फूट कर रोने लगी।

४

ट्रेन पर से उतर कर पहली जो चीज लक्ष्मी ने देखी वह था हावडा का विशाल रेलवे-स्टेशन। इस स्टेशन की बात उसने पहले कहानियों में या लोगों के मुँह से ही सुनी थी। भागीरथी का प्रसिद्ध पुल आने जाने वाली सवारियों की भरमार, आँखों को चकाचौंध कर देने वाली रोशनी—सभी उसके आश्चर्य को बढ़ा रहे थे। उसे ऐसा जान पड़ रहा था जैसे वह किसी जादू के बल से परियों के देश मे आ गई हो। जीवन मे पहली बार वह मोटर पर सवार हुई। एक बार उसने मोटर देखी तो जरूर थी। गाँव के जमींदार की मोटर थी। भीड़ भाड की वजह से उसके घर के आगे रुक गई थी। डरते डरते उसने एक बार उसे अपनी हथेली से छू भर लिया था।

वह एक भव्य भवन के सामने उतरी। वहाँ भी उत्सव हो रहा था। इतने बडे धनजन से सयुक्त महल की उसने स्वप्न मे भी कल्पना न की थी। एक सीधी सादी ग़रीब देहाती लड़की—अपने चारो ओर वैभव

के इस अतुल विस्तार को देखकर वह खो सी गई। वह कुछ सोच न सकी—सोचने का मौका भी तो उसे न मिला। वह तो अपने चारो ओर रग विरगी रोशनी, और भडकदार वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित स्त्री पुरुषों को देखकर चकित सी हो रही थी। उसे ऐसा जान पड रहा था जैसे नानी की कहानी के किसी मेले ठेले का दृश्य उसकी आँखों के आगे आ गया हो। वह अपने आपे में नही थी।

शादी की अनेक रस्में अदा की गई, लेकिन लक्ष्मी अपनी घबड़ाहट और आश्चर्य से मुक्त न हो सकी।

उसके बारे मे अनेक बाते कही गई—सभी प्रायः उसके लिये सन्तोषप्रद थीं। वह कितनी ही बाते सुन सकी—कितनी ही न भी सुन सकी। "कितनी प्यारी दुलहन है यह! चेहरा कैसा परियों का सा है।" "देखो—कैसी विनीत और नम्र है"—ऐसी और भी कितनी ही प्रशसात्मक बाते दर्शकों की उस भीड़ में सुन पडीं जो उसके चारो ओर एकत्र हो गई थी। दूल्हे की चाची ने उसकी ठुड्ढी पकड़ कर उसका मुँह ऊपर को उठाया और स्नेह भरे शब्दों मे कहा—"मुरारी के हृदय में एक सुन्दर दूल्हन की कितनी लालसा थी। बहू उसी के योग्य है। उसकी इच्छा पूर्ण हुई।"

इस प्रकार अत्यन्त स्नेह और सम्मान के बीच लक्ष्मी रहने लगी। लेकिन एक दूर देश मे पडी हुई स्नेहमयी माता की स्मृति में उसकी आँखो मे आँसू आ जाते। उसकी सास स्नेहपूर्वक उन आँसुओं को पोंछ देती और सान्त्वना भरे शब्दो मे कहती—"रो मत, बेटी। क्या तुम अपनी माँ से मिलना चाहती हो?" वाष्परुद्ध कण्ठ से लक्ष्मी

अपनी स्वीकृति देती। सास स्नेह सने शब्दों मे कहती—"बहुत जल्द ही मैं तुम्हे तुम्हारी माॅ के पास भेज दूॅगी। रो मत, बेटी। तुम्हारी आॅखों में आॅसू देख कर हम सब को कष्ट होता है।" और लक्ष्मी प्यार के इस मादक वातावरण में अपना दुख भूल जाने की निष्फल चेष्टा करती।

५

शादी के बाद धीरे धीरे साल भर बीत गया। लक्ष्मी बीच मे दो एक बार माॅ के पास गई थी किन्तु एक सप्ताह से अधिक वहाॅ न रह सकी। एक दिन लक्ष्मी का पति मुरारी अपनी आराम-कुर्सी पर लेटा सिगरेट का धुॅआ उड़ा रहा था। बाहर घोर वर्षा हो रही थी। लक्ष्मी बैठी हुई इधर उधर की बातों पर अपनी विचार धारा दौडा रही थी। उसका मन बचपन की आनन्दमयी स्मृतियो मे निमग्न हो गया। उसे याद आया—किस प्रकार उसके गाॅव मे सुहावनी सन्ध्या के समय एक मन्दिर का घटा देर तक बजा करता—उसकी मधुर गम्भीर ध्वनि निस्तब्धता मे दूर दूर तक गूॅजा करती—किस प्रकार माॅ की गोद में वह परियों की कहानियाॅ चाव से सुना करती—ये स्मृतियाॅ जितनी ही मधुर थी उतनी ही करुण भी थी।

निस्तब्धता को भग करते हुए लक्ष्मी ने पति से कहा—"प्रिय, क्या मुझे कुछ दिनों के लिये माॅ के पास भेज दोगे?" मुरारी ने सिगरेट का धुॅआ फेकते हुए उत्तर दिया—"अगर इसी दशहरे मे भेज दिया जाय तो कोई नुकसान है? तब तक बरसात भी समाप्त हो जायगी।"

अपनी वर्तमान स्थिति का ख्याल करके लक्ष्मी केवल मुस्करा कर रह गई। इन दिनों उसकी प्रकृति में एक अपूर्व परिवर्तन हो गया था। बचपन की वे बाते न थीं। वह कितनी उद्धत—कितनी स्वतन्त्र थी। और अब—विनय और नम्रता की मूर्ति। उन दिनो वह प्रकृति की पुजारिन—वन-विहगिनी के समान स्वच्छन्द थी। किन्तु अब उसकी देहाती निर्द्वन्दिता और जंगली स्वतन्त्र आदते गायब हो चुकी थी। उनका स्थान लिया था सुसभ्य शहरी शिष्टाचारो ने।

किन्तु अन्दर ही अन्दर वह घुटी जा रही थी। जीवन के इस परिवर्तन में उसे अपनी स्वच्छन्द आत्मा का कितना बलिदान देना पड रहा था। उसे ऐसा जान पड़ता जैसे वह कैद मे हो। किसी भी चीज की ओर अब उसकी पहले की सी रुचि न रह गई थी। उसका स्वस्थ शरीर अब क्षीण हो चला था। कभी कभी हल्का बुखार भी हो जाता। सर्दी और खॉसी तो बराबर रहने लगी। दवा तो वह कोई लेती ही न थी। इसलिये डाक्टर भी उसे देखने आकर निराश ही लौट जाते।

मुरारी ने कहा—"प्रिये, तुम्हारा स्वास्थ्य धीरे धीरे गिरता जा रहा है। चलो, मैं तुम्हे कुछ दिनों के लिये किसी पहाडी जगह ले चलूँ।" लक्ष्मी ने जवाब दिया—"नही, नहीं। अच्छा हो कि मुझे कुछ दिनो के लिये मॉ के पास भेज दिया जाय।" मुरारी को यह बात बिल्कुल पसन्द न थी। उसने जरा चिढकर कहा—"क्या तुम सोचती हो कि मॉ के पास जाने से तुम अच्छी हो जाओगी?" लक्ष्मी ने भी जिद ठान ली। बोली—"तो यह तो निश्चित है कि मैं तब तक अच्छी न होऊँगी

जब तक मुझे अपनी माँ की ममतामयी गोद में आश्रय न मिलेगा।"

"ठीक है!" मुरारी ने कहा, "इस बात पर मैं फिर विचार करूँगा। अब कुछ देर आराम करो। तुम बहुत थक गई जान पड़ती हो।"

लक्ष्मी बिस्तर पर पड़ गई। उसने धीमी आवाज मे कहा—"मुझे भय है मैं अधिक दिन न जीऊँगी। मेरा अवसान समीप है। क्या मेरी इतनी सी प्रार्थना स्वीकार न करोगे, प्यारे?" उसकी बन्धन में पड़ी हुई आत्मा अपनी पुरानी स्वच्छन्दता में जाने को छटपटा रही थी।

६

मुरारी लक्ष्मी को पुरी के समुद्री तटों पर जल-वायु-परिवर्तन के लिये ले गया। सामने वाली खिड़की से समुद्र का विशाल वक्ष दिखाई देता था। उछलती हुई उन्मादिनी लहरे गर्ज गर्ज कर किनारों से टकरा रही थीं। लक्ष्मी ने बाहर की ओर देखा और मुरारी को यह दृश्य दिखाते हुए बोली—"एक वक्त था जब मैं भी इन्हीं लहरों की तरह उन्मत्त और उच्छृङ्खल थी।"

उसकी पीठ को प्यार से थपथपा कर मुरारी ने आश्चर्य भरे स्वर मे कहा—"क्या कहा? क्या तुम ठीक कह रही हो? लेकिन, प्रिये, ऐसी कौन सी वस्तु है जिसने तुम्हे इतना शान्त और स्नेहशील बना दिया है?"

लक्ष्मी ने कोई उत्तर न दिया। उसके पीले होठों पर एक गुलाबी हँसी भर खेल गई।

कुछ देर तक शान्त रह कर उसने फिर कहा—"क्या तुम मेरे बचपन की एक कहानी सुनोगे ?—सुनो। एक दिन मुझे मालूम हुआ कि ठाकुर साहब के सेव के पेड पर बडे स्वादिष्ट फल लगे हैं। जानने की देर थी कि मैं जल्दी से वहाँ पहुँच गई। मेरे पीछे पीछे मेरी हमजोली लड़कियो की सेना थी। वहाँ पहुँच कर हमने देखा कि पास ही एक पत्थर पर बैठे ठाकुर साहब नारियल पी रहे हैं। स्थिति विलक्षण हो हो गई और एक क्षण भर तो हमारी समझ मे नही आया कि क्या करे। पर सहसा मुझे एक बात सूझ गई। मैं जल्दी से उनकी गोशाला मे घुस गई और एक गाय का बन्धन खोल दिया। मेरे गुदगुदाने पर वह उछल कर भागी। मैंने जाकर यह खबर ठाकुर साहब को दी। उस समय मेरा भाव ऐसा था जैसे ठाकुर साहब के निजी कामो में मेरा कुछ प्रेम हो। ठाकुर साहब फौरन गाय के पीछे दौडे। हमें अवसर मिला और हम सब ने मिलकर······ आह !" लक्ष्मी रुक गई। उसे छाती के पास तेज दर्द मालूम हुआ।

मुरारी उसका उपचार करने लगा और उससे शान्त रहने को कहा। यह सोच कर कि शायद उसकी माँ के आने से लक्ष्मी की तकलीफ कुछ कम हो, उसने कहा—"क्या मैं तुम्हारी माँ को यहाँ आ जाने के लिये तार दे दूँ ?"

लक्ष्मी ने स्वीकृति मे सिर हिलाया। माँ के आने की भावना से ही उसके मुरझाये हुए चेहरे पर एक स्निग्ध आभा सी फैल गई। कितना मोहक उन्माद था वह। मुरारी बहुत दिनों से उसके इस भाव के लिये

तरस रहा था—वह निहाल हो गया। खुशी खुशी उसने लक्ष्मी की माँ को तार दे दिया।

रात्रि का घना अन्धकार पृथ्वी को एक काले आवरण से आच्छादित कर रहा था। समुद्र उसी प्रकार गर्ज रहा था—पर्वताकार लहरें किनारों से टकरा कर फेनिल हो रही थी। प्रकृति का यह व्यथापूर्ण क्रन्दन स्वर रात्रि की नीरवता मे और भी भयानक हो उठा। दो दुखी आत्माये मुक्त वातायन के पीछे एक बार असमय वियोग की भावना से भयभीत हो कर काँप उठी।

७

लक्ष्मी के पास बैठी बैठी उसकी माँ उसका सिर सहला रही थी। आज उसकी हालत बहुत खराब थी। कुछ देर तक वह आकाश की ओर और समुद्र की तरगों की ओर एकटक देखती रही। तब अपनी मुरझाई आँखों को माँ की ओर घुमाते हुए उसने क्षीण स्वर मे कहा—"माँ, मेरी प्यारी माँ, तुम्हारी शैतान और उद्दण्ड लड़की लक्ष्मी आज तुमसे और ससार से बिदा ले रही है। अनीता, पुष्पा और दूसरी लडकियाँ—आह! क्या वे कभी मुझे याद करती हैं? उनसे कह देना—राय बाबू के तालाब पर हमने जो मिट्टी का घर बनाया था उसे तोड न दे। ‥ ‥ ‥माँ, मेरी अन्तिम इच्छा यही है कि तुम प्रतिदिन सन्ध्या समय वहाँ एक दीपक जला दिया करो। ‥‥ ‥माँ, तुम देख रही हो अब मैं कितनी सीधी हो गई हू। बहुत दिनों से मैं

पेड़ों पर नही चढी हू।' कुछ रुक कर उसने फिर कहा—"मेरा हृदय उस जीवन के लिये तरस तरस कर रह जाता है। जब से मैं तुमसे अलग की गई, माँ, तब से मुझे ऐसा जान पडता था जैसे मैं किसी क़ैदखाने में बन्धन मे जकड़ी ... ..." उसकी बोली और न सुनाई दी। उसकी कैदी आत्मा पिजडे को तोड कर अनन्त आकाश मे विलीन हो गई!

मुरारी को अपनी ग़ल्ती मालूम हुई किन्तु बहुत देर से। वह शून्य दृष्टि से उस मुक्त क़ैदी के पिंजर की ओर देखता रह गया!

कंगाल मानवता

१

शहर के बाहर दूर दूर तक धनी और समृद्ध पुरुषों के ग्रीष्मावास और आमोद-मन्दिर फैले हुए हैं। उन इधर उधर फैले हुए छोटे छोटे बँगलो से निकली हुई अनेको पतली पतली पगडण्डियाँ समुद्र की ओर जाकर नारियल के वृक्षों के समूह मे मिल जाती हैं। पगडण्डियो से और कुछ दूर पश्चिम की ओर हटकर छोटी छोटी फूस की झोपडियो की कतार इस प्रकार बिखरी पडी है जैसे किसी विरहिणी की आँखो के आँसू। कगाल मानवता का रुदनमय जीवन, दरिद्रता का नग्न ताण्डव, जीवन की आवश्यकताओं का निर्मम हाहाकार। वैभव की शालीनता के बगल मे ही निर्धनता की कुचली हुई आत्मा—उसकी आँखो से निकले हुए आँसुओ से प्रकृति का नीरव शृङ्गार! कैसा विषम चित्र था।

इन झोंपड़ियों की हार-माला से अलग हट कर एक दो फर्लांग दूर एक अकेली झोपड़ी थी—जैसे मृग-समूह से अलग भटका हुआ

एक चकित भयभीत सा मृगशावक। इन झोंपडियों में माँझियो और केवटो की बस्ती थी।

आफताब की पहली किरण पृथ्वी पर पडने के पूर्व ही झोंपडियो से छोटी छोटी बदबूदार टोकरियो मे मछलियाँ भर भर कर माँझियो के स्त्री-बच्चे शहर की ओर गीत गाते चल देते। इस दीनता मे भी शायद इन्हे सुख था। धनियो की गगन चुम्बी अट्टालिकाओ की ओर ये आँख उठाकर भी न देखते।

श्रावण-पूर्णिमा के दिन "दरिया-पीर" को नारियल चढा कर ये केवट लोग अपनी अपनी नावो का लगर उठाते और नजदीक के टापुओ की ओर सफर करते। जाने के वक्त झोपडियो की दीवालो को भेदता हुआ बिदा का सगीत, गाती हुई स्त्रियों का वेदना भरा स्वर, नावो की छत पर खडे हो कर अपने स्त्री-बचो की ओर अन्तिम नजर डालते हुए केवटो की भीगी आँखे—उस समय इन झोपड़ो मे विषाद का अनन्त सगीत गूँज उठता।

छै छै महीनो की दो खेप। आकाश मे जब पहला बादल दिखाई देता और बिजली की पहली रेखा से आकाश चमचमा उठता—उस समय दूर देशो को गये हुए ये जल-पोत वापस लोटते और थोडे समय के लिये इन झोंपडो दी दीवाले कल्लोल और आनन्द की मधुर ध्वनि से गूँज सी उठती।

छै छै मास के इस लम्बे समय मे केवटो की स्त्रियाँ पौ फटने के पूर्व ही प्रभात की छिटकती हुई सफेदी मे "दरिया-पीर" से अपने पति-पुत्रो की कुशलता के लिये प्रार्थना करतीं। इस बीच वे ग्रीष्मावासो मे

रहते हुए इन धनिकों के यहाँ काम करतीं और किसी प्रकार अपने बाल-बच्चो का भरण-पोषण करती। कभी कभी आठ-आठ दस-दस वर्ष के बच्चे गले में पेटी डाल कर समुद्र-तट पर हवाखोरी के लिये जमा शौकीनो के बीच "बूट-पालिश" की आवाज लगाते फिरते। इस प्रकार इन झोंपडो की करुण मानवता समुद्र के सैकत तट के एक एक कण में बिखरी पड़ी थी।

झोंपडों की हार-माला से बिछुडे हुए उस अकेले झोंपडे की दीवाले कैरोसीन के पीपो की काटी हुई काली काली चादरो और दुर्गन्धि-युक्त पुरानी चटाइयो से बनी हुई थी। सात फुट ऊँची इस प्रकार बनी हुई दीवाल पर बाँस के चीरे हुए लम्बे टुकडे बिछा कर उन पर नारियल और ताड़ के पत्तों और चटाइयों से छाया की हुई थी। झोंपडे के एक कोने में सन के सूखे हुए गुच्छो और पुआल का बिछौना था। उस पर एक फटी हुई काली कमली बिछी थी। एक कोने मे पानी का एक घड़ा और एक कुल्हड़ पडा था। एक ओर एक चूल्हा और तीन चार मिट्टी के बर्तन अस्त व्यस्त से पड़े थे।

ग़रीबों के उस बिछौने पर लगभग दस वर्ष का एक बालक अर्द्धनग्नावस्था में कराहता हुआ पड़ा था। उसके पास ही जलती हुई चिता की अर्द्ध-दग्ध रूह के समान कंकाल सी देह को फटे हुए कपड़ों मे छिपाती अस्थिपञ्जरावशेष कोई स्त्री बैठी थी। उसकी सूनी सी आँखो में ममता भरी वत्सलता छलछला रही थी।

"माँ, कल्लू काका की नाव तो वापस आ गई। पर बापू क्यों नहीं आये ? माँ, कल्लू काका तो एक दिन आँखो मे पानी भर कर

कहते थे कि, बेटा आसू, "दरियापीर" को मन्नू की जरूरत रही होगी। तो माँ क्या सचमुच "दरियापीर" ने बापू को बुला लिया ? माँ, बोलती क्यो नही ? मुझे छोडकर बापू "दरियापीर" के पास नही जा सकते— क्यों, ठीक है न ?" बीमार बच्चे की कॉपती हुई धीमी आवाज झोपडे की नीरवता मे एक वेदनामय सगीत का सृजन कर रही थी। रोती हुई माता की दर्दभरी सिसकियाँ इस सगीत में ताल दे रही थी। जीवन की इस कटुता में कुचले हुए दिलों की हूक को शान्त करने के लिये सिर्फ पडोसियों की सहानुभूति का सहारा था। या ईश्वर की कृपा। पर पडोसियो की झोपडियाँ दूर पडती फिर भी वे आ ही जाते और ईश्वर— वह भी शायद सौभाग्य का ही साथी है ! यदि उसी की नजर होती तो मन्नू को "दरियापीर" की बुलाहट ही क्यों मिलती !

२

गत श्रावण-पूर्णिमा के दिन कल्लू और मन्नू के पोत समुद्री सफर को रवाना हुए। हृदय को हिला देनेवाले विदा-गीतो को गाकर इतनी स्त्रियो ने इन्हे दरियापीर की गोद में खेलने को छोड़ दिया। सात सात महीने बीत गये। कल्लू और अन्य केवटों के पोत परदेश से माल बोज कर वापस लौट आये पर मन्नू का काफला नहीं लौटा। कल्लू और मन्नू की नावे एक साथ रवाना हुई थी। पर राह मे ही तूफान मे पड़ गईं। मन्नू की नाव अलग बहक गई। आठ दिन के भयकर तूफान के बाद दरिया शान्त हुआ। एक जगह लगर डालकर कल्लू ने मन्नू की बहुत खोज की पर सब व्यर्थ हुआ। निराश होकर अनुकूल हवा के

रुख मे कल्लू ने अपनी नाव खोली। उस स्थान से बाहर निकलते ही किसी नाव का टूटा हुआ तख्ता समुद्र की सतह पर तैरता दिखाई दिया। कल्लू ने अपनी नाव उसी तरफ घुमाई और तैरते हुए तख्ते के आस-पास अच्छी तरह जॉच की। सहसा उसके मुँह से एक चीख निकल गई। "हा दरियापीर, हा ईश्वर!" उसकी आँखें भर आईं। वह रो पडा। मन्नू की नाव दरिया के पेंदे मे जा बैठी थी पर मन्नू का कोई समाचार न मिला।

पन्द्रह दिन हुए कल्लू की नाव शहर के तट पर वापस आगई थी। मन्नू का अभी पता न था। आकाश मे बादल घिरे थे। दरिया दिन पर दिन अधिक तूफानी होता जाता था।

दस दिन से आसू को ज्वर हो रहा था। हृदय को दुखानेवाला उसका वेदनामय करुण स्वर इस नीरव विजनता मे भी एक दर्द पैदा कर देता था। गत आठ दिनो से आसू की मॉ ने भी काम पर जाना छोड दिया था। कल्लू के पास से लाये हुए चार पॉच रुपये आसू के लिये दूध और दवा पानी इत्यादि के बन्दोबस्त मे खर्च हो गये। एक दिन तो आसू की मॉ मालिक के दूधवाले से आरजू मिन्नत करके थोडा सा दूध मॉग लाई। पर दूसरे दिन उसने दूध न दिया। बेचारा बालक भूख और ज्वर की वेदना से छटपटा कर रह गया। मॉ आकाश की ओर देख कर रोती ही रह गई।

जाड़ा पड रहा था। पास मे कपडा नही था। किसी तरह पुआल और सन मे घुस कर काम चलता। पर भूख—यह तो सिर्फ अन्न से ही शान्त हो सकती है। आज उपवास का तीसरा दिन था। विवश हो

कर आसू को अकेला छोड उसकी माँ को काम पर जाना पडा। दिन भर काम के बीच भी उसको बच्चे का मुरझाया हुआ चेहरा याद आ जाता। रह रह कर उसकी आँखों से दो चार आँसू ढुलक पडते।

पश्चिम गगन मे सन्ध्या ढल रही थी। काम पर गई हुई आसू की माँ मालिक के यहाँ से वापस लौटी। आज की मिली हुई मजदूरी से बच्चे के लिये दूध लाई थी। उसे पिला कर स्वयं भूखी प्यासी उसी के पास सर्दी मे काँपती हुई पड रही। झोपडे की छत के छेदो मे से आती हुई ठडी हवा उसके अर्द्ध नग्न बदन को छेद सी रही थी।

दूसरे दिन सबेरे आसू उठा। माँ रात को भी भूखी रह गई इसकी उसे बड़ी चिन्ता थी। आज उसकी तबीयत भी कुछ हल्की सी जान पडती थी। अपने गले में बूट-पालिश की पेटी लटका कर जाडे से काँपता हुआ वह बोला—"माँ, आज समुद्र-तट पर फेरा लगा आता हूँ। शाम को भी चला जाऊँगा। शायद दो एक आने मिल जायँ।"

"नही, बेटा। आज नही। कल चले जाना। आज तो तू आराम कर।" माता की वत्सलता दीनता की इस विवशता मे हाहाकार कर रही थी।

"नहीं, माँ, आज न जाऊँ तो खाऊँ क्या! तूने भी तो चार दिन से कुछ नहीं खाया!" आसू के एक एक शब्द में पाषाण को भी पिघला देनेवाली करुणा थी।

"ठीक है, बेटा। हम गरीबो का जीवन ही ऐसी कितनी ही विवशताओ से भरा हुआ है। अच्छा, चला तो जा, पर शाम को

जल्दी आना। मैं भी मालिक के यहाँ से जल्दी ही आऊँगी।" उसकी आवाज मे कितनी असहायता की भावना थी!

३

दूर··· ·····दूर क्षितिज से सट कर सागर पृथ्वी के पद-तल में अपनी विभूति बिखेरे पडा हुआ था। और इस क्षितिज से कुछ दूर खडे सूर्य का रग सागर के विशाल वक्ष पर छिटका हुआ किसी चतुर चितेरे की कूँची की याद दिला रहा था। समुद्र के सैकत तट पर लोगों की भीड लगी हुई थी।

थोडी देर बाद किसी की धीमी पर करुणा भरी आवाज ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। कुछ दूर पर एक लड़का दो तीन कॉलेजियन से दिखाई पड़नेवाले फेशनेबुल युवको के बूट पालिश करता हुआ कुछ गा रहा था। शब्दो की अस्पष्टता के कारण कुछ समझ में न आ रहा था। पर आवाज मे मधुरिमा थी—अन्तर से उठती हुई वेदना की झनकार थी।

लडके ने काम खतम किया। काम के बदले में मिले हुए तीन पैसों को उसने अपने फटे हुए कोट की थैली मे धीरे से डाला और जिधर मैं बैठा था उस ओर आया।

'साहब, बूट पॉलिश। सिर्फ एक पैसे में डबल हाथ, साहब! कर दू?" लडका डरते डरते बोला। उसके एक एक शब्द में गम्भीर यातनाओं की वेदना भरी थी। आवाज मे आरजू थी। मैंने बूट उतार कर दे दिया। उसने अपना काम शुरू किया।

"लड़के, तेरा नाम क्या है ?" मैं सहसा पूछ बैठा।

"आसू।" सिर्फ दो अक्षरों में मेरे सवाल का जवाब मिला। एक बार मेरी ओर करुणा भरी दृष्टि से देख कर वह फिर काम मे लग गया।

"आसू, तुझे गाना आता है क्या ?"

"साहब, मेरा भी क्या गाना !" ऊपर देखे बिना ही उसने जवाब दिया।

"झूठा कहीं का। अभी ....तो वहाँ बूट पॉलिश करता हुआ तू गा रहा था।" मैंने थोड़ी दूर पर बैठे हुए कॉलेजियनों की ओर इशारा किया।

"साहब, हाँ। वहाँ मैं गा रहा था। पर साहब, मेरा गीत तुम्हे पसन्द आयेगा ?" उसके मुख पर कई प्रकार के भाव आ आ कर लुप्त हो जाते थे।

"हाँ, हाँ, ज़रूर। आसू, गा तो देखूँ। मुझे तेरा गाना बहुत पसन्द आया था।" और आसू के मुँह पर आनन्द तथा सन्तोष की रेखाये थोड़ी देर तक रमी रहीं। उसकी आवाज चारों ओर गूँज उठी—

विवश है जीवन अपना !

ज्वाला मे है पॉव हमारा,

पल-पल जलता जीवन सारा,

दैन्य अहेरी निशि-दिन छलता—

सुख है हमको सपना !

विवश है जीवन अपना !

"शाबाश, आसू शाबाश!" कडी कड़ी में करुण मानवता की वेदना मूर्तिमान हो रही थी। उसने बूट पॉलिश करके मेरे पास रख दिये।

"आसू, तेरे माँ बाप हैं क्या?" मैंने उसके विषय मे अधिक जानने की इच्छा से पूछा।

"साहब, माँ है। काम पर गई है। बापू तो एक दिन यहीं से कहीं जाने का नाव पर चले थे और फिर वापस नही आये। आज उन्हे सात महीने हो गये। हमारे पास के कल्लू काका तो कहते थे कि "दरिया-पीर" को बापू की जरूरत पड़ी—इसी से वे नही आये। साहब, ऐसा ही होगा। मेरी माँ भी यही कहती थी।" आसू विह्वल सा हो कर अपनी जीवन-पुस्तक के दो तीन पन्ने उलट गया।

"हाँ, भाई, सच होगा।" आसू नीरव शून्य दृष्टि से मेरी ओर देख रहा था। मेरी आँखो मे पानी आ गया। "ले आसू" कह कर मैंने उसके हाथ मे चवन्नी दे दी। लड़का समुद्र-फेन के समान निर्मल हँसी हँसता हुआ चला गया।

लगभग आठ बज रहे थे। घर जाने का वक्त हो गया था। मैं उठा। समुद्र का किनारा छोड़कर आगे बढा। थोडी दूर जाने पर एक जगह कुछ भीड सी देख पडी। कौतूहल-वश मैं भी उधर ही बढ गया। जाकर देखता क्या हूँ—आसू की रक्त भरी देह पृथ्वी पर पडी थी। दो एक पुलिस के आदमी शव की जाँच कर रहे थे। वैभव के मद मे मत्त किसी धनी व्यक्ति की मोटर उसके कोमल शरीर को कुचलती हुई चली गई थी। पुलिसवालो ने उसके शव की व्यवस्था की। मेरी आँखों के

आगे वही रक्त भरा आसू का शरीर नाच रहा था। मैं जैसे किसी स्वप्न-लोक मे चला जा रहा था---जीवन के इस वेदनामय चित्र में भूला हुआ !

४

लगभग दस दिन बाद एक दिन सन्ध्या को मैं हमेशा की तरह समुद्र-तट पर बैठा दरिया की उत्ताल तरगो का हाहाकार सुन रहा था। थोडी दूर पर एक स्त्री पागल की तरह कभा हँसती, कभी रोती इधर उधर फिर रही थी। उसके हाथ मे कुछ था।

"अरे, यह कौन है ?" मुझसे थोडी दूर पर बैठे हुए एक भाई ने अपनी बगल मे बैठे हुए दूसरे व्यक्ति से पूछा।

"अरे, यह तो पगली है। वह जो आसू बूट पॉलिश करने आता था न। उसकी माँ है। आसू बेचारा उस दिन मोटर के नीचे कुचला गया था न। अब यह इस प्रकार पागल मी हो रही है। लडका गाता अच्छा था।"

समुद्र-तट पर रोज सैर करने वाले आसू को अच्छी तरह जानते थे। आसू बूट पॉलिश अच्छी करता था। और बूट पॉलिश करते हुए वह गाता तो लोगो को बहुत अच्छा लगता। थोडी देर बाद वह पगली मेरी ओर आई।

"हे ··हे · तुमने मेरे आसू को देखा ? मैं उसके लिये दूध लाई हूँ। वह बीमार था न। · · हाँ, हाँ, ठीक है। तुमने मेरे आसू को देखा है।" और इतना कहते कहते वह रो पडी। उसके शब्दों ने मेरे

हृदय मे तूफान पैदा कर दिया। मैंने कहा—"हाँ, बहन। मैंने तेरे आसू को देखा है। चल, दिखाऊँ।" मेरा हृदय भी उस समय पागल सा हो रहा था। इन बेचारों का जीवन-इतिहास मैं जानता था। करुणा का ऐसा घात-प्रतिघात मैंने बहुत कम देखा था। कहाँ वह विलासिता का उच्च साधन-भरा जीवन और उसी के विपरीत दरिद्रता का यह अखण्ड ताण्डव—विलासिता के मद में पीसी जाती हुई यह विवश मानवता! मैं चल पड़ा। स्त्री भी मेरे पीछे पीछे चली—कुछ आशान्वित होती हुई सी। किन्तु आशा·· ··आह! छलना!

मैं आगे चला। दस दिन पहले जिस जगह वह घटना हुई थी वहाँ आया। मैंने सब बात उसे बता दी। खून की बूँदे सूखकर काले काले दाग के समान हो गई थीं।

"हाँ, आसू यहाँ है··· ··हा-हा-हा-हा!" उसने दूध का कटोरा वहाँ उछाल दिया और जोर से हँस पडी। मृत्यु की विकरालता उस हँसी मे अट्टहास कर रही थी।

मैं स्तम्भित सा उसकी ओर देख रहा था कि वह "आसू आसू" पुकारती हुई समुद्र की ओर दौड पडी। मेरी समझ मे न आया—क्या करूँ। मैं उसके पीछे दौडा लेकिन वह बहुत आगे जा चुकी थी। जब तक मैं तट पर पहुँचूँ तब तक तो दरिया की भूखी लहरे उसे अपनी गोद मे समेट चुकी थी। समुद्र तट की शान्त नीरव हवा शायद इस करुणा भरे जीवन पर आँसू गिरा रही थी!

मायामृग

एकाङ्की

प्रथम दृश्य

[निर्जन वन—पतली सी टेढी मेढ़ी पगडण्डी—दूर पर पर्वत-
श्रेणी घनी लताओं और वृक्षों से आच्छन्न]

(त्रिपिटक और त्रिदिव का प्रवेश)

त्रिदिव—ओह ! अब और नही। त्रिपिटक, चलो लौट चले। हमारी आँखों को धोखा देकर वह चला गया।

त्रिपिटक—दिन भर दौडे हो, त्रिदिव। तुम थक गये हो। मै खूब जानता हूँ—यह पगडण्डी उस पहाड की तलहटी तक चली गई है। मैं अन्त तक देखूँगा तुम लौट जाओ, त्रिदिव।

त्रिदिव—तुम अकेले जाओगे, त्रिपिटक ? तुम क्या थके नहीं हो ? दोनो ही समान वेग से दौड़ते रहे हैं। जान पड़ता है वह हमे नहीं मिलेगा।

त्रिपिटक—मैं अन्त तक खोजूँगा, त्रिदिव। मेरी आँखों मे धूल झोंक-
कर वह इस बन मे छिप जाय—यह मैं कैसे सह सकूँगा।
उसे मुझे पाना ही होगा।

त्रिदिव—जान पडता है—जिसे तुम चाहते हो उसे पा न सकोगे। वह
हमारी पकड की सीमा के बाहर है।

त्रिपिटक—इसके माने ?

त्रिदिव—कल्पना—वह केवल तुम्हारी कल्पना है।

त्रिपिटक—आह! नही-नही, त्रिदिव। मैंने उसे तालाब के दूसरे किनारे
पर देखा है। उस विराट अशोक वृक्ष की जड के पास वह
खड़ा था। कैसा विचित्र था उसका रग—तप्त स्वर्ण की तरह!

त्रिदिव—हाँ, मुझसे तुमने यही कहा था। शिकार के लिये चला था।
पीछे शब्द सुनकर घूमकर देखा—तुम दौडे चले आ रहे थे।
हाथ मे तीर-धनुष और द्रुत गति। तुमने कहा था कि तुमने
उसे देखा है।

त्रिपिटक—हाँ, भाई। मैंने आड में से मुग्ध की भाँति बहुत देर तक
लक्ष्य किया। हठात् मेरा पैर सूखी पत्तियो पर पड़ गया। मर्मर
ध्वनि सुनकर उसने चौंककर सिर उठाया और मेरी ओर
देखा! उसकी आँखो मे मैंने एक प्रकाश सा देखा—एक
क्षण के लिये। वही ·· ··वही आलोक तो मुझे खींचे लिये
जा रहा है, त्रिदिव।

त्रिदिव—मेरे पास से ही ऊँची घास की आड़ से जाने क्या बिजली की
तरह भागा। जब ख्याल हुआ तब वह आँखो से ओझल

हो चुका था। सिर्फ देखा—तुम पागल की भाँति दौडे आ रहे हो।

त्रिपिटक—और यह देखो—नरम मिट्टी पर उसके पैरो के चिह्न।

त्रिदिव—ये दूसरे के भी तो हो सकते हैं।

त्रिपिटक—नही, नहीं। तालाब के उस पार भी भीगी मिट्टी पर मैंने ये चिह्न देखे हैं। ये निशान ठीक वैसे ही हैं। देखते हो, खुर का बॉया हिस्सा कैसा तीखा है।

त्रिदिव—कौन जाने वह इस गहन वन के किस हिस्से मे छिप गया है। कहाँ उसे पा सकेंगे ?

त्रिपिटक—त्रिदिव, यह रास्ता तुम अच्छी तरह नही जानते। मैं निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ कि जब वह वन के इस हिस्से मे आ गया है तो मैं उसे अवश्य खोज निकालूँगा। यह मार्ग पहाड़ की तलहटी तक जाता है। उस ऊँचे पहाड की टेढी-मेढी ऊँची-नीची चट्टानो पर चढकर जाना अत्यन्त कठिन है। आज तक किसी शिकारी ने ऐसा साहस नहीं किया। पहाड के नीचे एक ओर घनी घनी लतायें बडे-बड़े वृक्षों को अति दुर्भेद्य जाल की तरह जकड़े हुए हैं। एक ओर गोमती नदी की पतली टेढी-मेढी धारा बर्फ के समान शीतल जल मेघाच्छादित पर्वत-शिखर से अत्यन्त वेग के साथ प्रवाहित होता है।

त्रिदिव—हाँ, वही गोमती नदी हमारे गाँव के पास से तीव्र गति से बहती है।

त्रिपिटक—पथ दुर्गम है। जैसे भी हो सकेगा—मैं जाऊँगा। तुम लौट जाओ, त्रिदिव। घर की स्निग्ध शान्ति मे तुम्हे शीतल विश्राम की उपलब्धि होगी।

त्रिदिव—बन्धु, तुम क्या दिन भर नहीं चले हो? साथ साथ दोनो ने शिकार खेलना सीखा है। क्लान्त होकर पराजय मानना ही क्या हमारी शिक्षा थी?

त्रिपिटक—तब भी लौट चलना चाहते हो?

त्रिदिव—मेरा मन कहता है—यह मरीचिका, मन को मुग्ध करनेवाला जादू का स्वप्न, सिर्फ छलना मात्र है।

त्रिपिटक—मैं कहता हूँ, यह सत्य है। आज और कोई शिकार न मिला। तो क्या मिथ्या स्वप्न के पीछे इस प्रकार विह्वल की तरह दौडता चला आ रहा हूँ?

त्रिदिव—मैं अकेला लौट न सकूँगा। त्रिपिटक, चलो। देखो, थोडी देर के बाद सूर्य डूब जायगा। उसकी लाल आभा पहाड के मस्तक पर रक्त-चन्दन का तिलक कर रही होगी।

त्रिपिटक—जितनी देर तक दिन का प्रकाश आकाश मे रहेगा—मैं उसे खोजूँगा। यदि अन्धकार हुआ—वन्य हिंस्र जन्तुओ का गर्जन चारो ओर सुना गया,. तब तुम कातर तो न होगे, त्रिदिव? बन्धु, तुम्हे प्राणो की माया है?

त्रिदिव—प्राणो की समस्या हमारे लिये नही है, त्रिपिटक!

त्रिपिटक—तुम क्या मेरे साथ जाने मे प्रसन्न हो?

त्रिदिव—तुम्हारे निर्जन पथ का साथी मैं हूँ, त्रिपिटक।

त्रिपिटक—ठीक, यही तो मैं चाहता था। हमे उसे ढूँढकर निकालना ही होगा। किन्तु, देखो, समय व्यर्थ नष्ट हो रहा है।

त्रिदिव—चलो, हम लोग उसे पकड लावे।

[प्रस्थान]

द्वितीय दृश्य

[गुहाभ्यन्तर]

(परिश्रान्त त्रिदिव और त्रिपिटक का प्रवेश)

त्रपिटक—यह क्या हुआ, त्रिदिव ? कुछ समझ मे नहीं आता।

त्रिदिव—गुफा का मुँह क्या हम फिर पा सकेगे ?

त्रिपिटक—मैं भी यही सोच रहा हूँ। वह इसी गुफा मे आकर घुसा था न, त्रिदिव ?

त्रिदिव—इतने काँटों और झाडझखाड़ों में उसके पद-चिह्न देख सका हूँ। मलिन अन्धकार मे भी वे साफ नजर पड़ते हैं। गुफा के मुँह पर भी वे दूसरी ओर गये हुए नहीं दिखाई दिये। चार खुरों के दो दो दाग अभी भी मिटे नही हैं।

त्रिपिटक—विराट गुफा है यह। कही भी इसका अन्त नही है। हम लोगो ने इतना कोलाहल किया—हिंस्र पशुओ की बोली की नक़ल की, किन्तु उसका एक भी भय-चकित स्वर सुनाई न पड़ा।

त्रिदिव—पहाड भी कितना बड़ा है ! कितना हम लोग चल चुके—कहा नहीं जा सकता। किसी चीज का शब्द भी सुनाई नही देता। निस्तब्ध-नीरव हजारों वर्षों से सुषुप्त नगरी की भाँति।

त्रिपिटक—तुम्हारे-मेरे निःश्वासों का शब्द, हृदय का स्पन्दन, कठोर पत्थर पर क्लान्त पैरों के आघात—ओह ! असह्य रूप से प्रतिध्वनित हो रहे हैं। मशाल के धीमे धीमे आलोक में तुम्हारे मस्तक पर बिखरे हुए बालों की छाया ! सब निस्तब्ध—भूतावास की तरह !

त्रिदिव—कौन जाने—कितना दूर और·········

त्रिपिटक—खूब सावधान। इधर गुफा बहुत पतली हो गई है। हो सकता है—यही इसका शेष हो। खूब धीरे धीरे पैर रखना।

त्रिदिव—(**हठात् एक जगह रुककर**) त्रिपिटक, किसी तरह की आवाज सुन पडती है।

त्रिपिटक—(**दीवाल पर कान लगाकर**) शब्द भीतर से आ रहा है।

त्रिदिव—तब क्या गुफा और भी भीतर की ओर चली गई है ?

त्रिपिटक—यह तो किसी वन्य जन्तु का गर्जन नही है। कठोर पत्थर के गुप्त कक्ष में किसी चीज का स्पन्दन रात्रि की नीरवता मे जाग रहा है। निभृत अन्तराल में इस शब्द का अस्तित्व भयावह है।

त्रिदिव—दबी हुई "गम्-गम्" सी आवाज। त्रिपिटक, मशाल जरा और नीची करो, थोडा और !

त्रिपिटक—(हठात् तीव्र भाव से) त्रिदिव, गुफा का शेष आ गया है। वही जो इसका अन्त है। क्रूर दीवाल ने हमें धोखा दिया था!

[अन्धकारमय गुफा—वही रहस्यमय ध्वनि प्रतिध्वनित होकर इधर उधर फिर रही थी—ऊपर, नीचे, सामने, पीछे—तीव्र विद्रूप]

त्रिदिव—विराट गह्वर! शेष! मृत्यु हमारी हँसी उड़ा रही है। त्रिपिटक, वह मायामृग था—मृत्यु की कराल छलना!

त्रिपिटक—थोड़ा धैर्य रखो, त्रिदिव। चलो, थोड़ा और आगे चले। अधीर न होना।

त्रिदिव—त्रिपिटक, क्या लौटने को कहते हो? इतनी दूर आये हैं—कठोर पाषाण के हृदय को कुचलते हुए—लौट जाना असम्भव है! मृत्यु—जीवित समाधि! हवा भारी हो रही है—साँस लेने मे भी कष्ट। इस दीर्घ रास्ते मे लौटना—मशाल बुझ जायगी, अन्धकार में दीवाल से माथा ठोकर खायेगा, कठोर पत्थर से पाँव कटकर खून झडेगा, सारा शरीर शीतल होकर लोट पडेगा इसी पत्थर की गोद मे।

त्रिपिटक—लौटना कैसा, त्रिदिव! कातर न हो। मरना ही है तो भय क्या? जान पड़ता है—वहाँ एक घुमाव है।

त्रिदिव—तुम मिथ्या सान्त्वना दे रहे हो त्रिपिटक। मृत्यु की गोद में जीवन को छोड़कर जीते रहने की आशा कैसे कर सकते हैं! त्रिपिटक, क्यों आये इस पथ पर? बाहर कितना प्रकाश है—कैसी स्निग्ध वायु!

त्रिपिटक—(दौड़ कर) त्रिदिव, त्रिदिव, देखो, यहाँ एक घुमाव है।

त्रिदिव—और ·········और भीतर! आकण्ठ मृत्यु की गोद में जाना होगा!

त्रिपिटक—आनन्द, आनन्द, त्रिदिव! हम लोग पहाड़ के दूसरे छोर पर पहुँच गये हैं।

त्रिदिव—बाहर के आलोक से चिरकाल के लिये विदा! मरण की निस्तब्ध गम्भीर ध्वनि।

त्रिपिटक—त्रिदिव गुफा का मुख उन्मुक्त है। ओह! हवा जोर से चल रही है।

त्रिदिव—(दौड़ते हुए) अहा-हा! थोड़ी सी हवा—कितनी प्यारी! अहा-हा!

त्रिपिटक—त्रिदिव, हम लोग मुक्त हैं। आकाश में मेघ हैं। उनका गर्जन सुनाई पड रहा है। ऊँचे वृक्षों के डाल-पत्ते जोर से हिल रहे हैं।

त्रिदिव—हम बाहर आ गये? अहा-हा! हम मुक्त हैं!

त्रिपिटक—वर्षा होगी। सावधान, त्रिदिव। बिजली चमक रही है।

त्रिदिव—तुम उसे पा न सकोगे, त्रिपिटक।

त्रिपिटक—अच्छी तरह देखो, त्रिदिव, दूर पर प्रकाश जैसा जान पडता है। हो सकता है। कोई कुटी हो।

त्रिदिव—हाँ, चलो। आज रात भर के लिये आश्रय मिल जायगा।

त्रिपिटक—त्रिदिव, हम लोग भूल गये।

त्रिदिव—यह सोचने का मौका नही है। असम्भव को सम्भव करने की चेष्टा व्यर्थ है। हवा का वेग बढ रहा है। चलो।

त्रिपिटक—हाँ, चलो।

[प्रस्थान]

तृतीय दृश्य

[कुटी का एक निर्जन कक्ष—प्रदीप की क्षीण रेखा अर्द्धम्लान सी—उसकी काँपती हुई शिखा की छाया पीछे की दीवाल पर पड़ रही है। दीवाल पर एक ओर एक काला पर्दा झूल रहा है। घर मे अपरूप नीरवता। एक ओर शुभ्र शय्या। किन्तु किसी प्राणी के अस्तित्व का चिह्न नही]

(द्वार पर त्रिदिव और त्रिपिटक का प्रवेश)

त्रिदिव—घर मे कोई नहीं है।

त्रिपिटक—कोई नही है ?

त्रिदिव—कोने मे एक दीपक भर टिमटिमा रहा है।

त्रिपिटक—काला कपडा छत से ले कर नीचे तक झूल रहा है।

त्रिदिव—आ कर देखता हूँ तो द्वार खुला है—भीतर कोई नहीं है।

त्रिपिटक—एक बार आवाज करके देखें।

[द्वार का कड़ा खटखटाता है—यह शब्द भी क्रमशः वायु मे मिल जाता है—कुछ क्षण तक शान्ति – कोई नही आता –किसी का आभास या चिह्न भी नहीं]

त्रिदिव—कोई है भी या नहीं! चलो, घर में घुस चलें। कैसा निस्तब्ध है! आश्चर्य, बिछौना बिछा है—सोनेवाले का पता नहीं। मैं परिश्रान्त हूँ।

त्रिपिटक—सुनो, त्रिदिव, जरा सुनो तो।

[एक ओर का दरवाज़ा खट से खुल गया। एक प्रहरी का प्रवेश। कोई बात बिना बोले काले कपड़े के पास खडा हो गया]

त्रिपिटक—हम लोग अतिथि हैं।

त्रिदिव—हम दोनों ही शिकारी हैं—विजयनगर का मार्ग भूल कर वर्षा मे पड़ गये। चिराग जलता हुआ देख कर.........आज रात भर के लिये आश्रय चाहते हैं।

प्रहरी—किन्तु, विजयनगर....... वह तो पहाड़ के उस पार........

त्रिदिव—हाँ, हम लोग शिकार के लिये आये थे।

प्रहरी—इस दुर्लंघ्य पर्वत को पार किया कैसे?

त्रिपिटक—पहाड़ की गुफा इस पार से ले कर उस पार तक विस्तृत है। हम लोगों ने एक मृग देखा था—तप्त स्वर्ण के जैसा रग......

प्रहरी—आप लोग हमारे अतिथि हैं। निःशक चित्त से विश्राम करें।

(घर का दरवाज़ा खोल कर दूसरे प्रहरी का प्रवेश)

द्वितीय प्रहरी—देख रहा हूँ—आज भी अतिथि आये हैं। हमारे अहोभाग्य!

प्रथम प्रहरी—हाँ, हाँ। तुम्हारा कार्य सम्पन्न हुआ?

द्वितीय प्रहरी—प्रायः सब कुछ हो चुका है।

प्रथम प्रहरी—बाक़ी भी कर डालो।

द्वितीय प्रहरी—बाहर बरसात हो रही है। ये लोग कहाँ से आ रहे हैं ?

प्रथम प्रहरी—विजयनगर के शिकारी हैं ये।

द्वितीय प्रहरी—किन्तु हरिण को क्या दोनो ही ने देखा है ?

प्रथम प्रहरी—(**अस्फुट स्वर में**) सिर्फ एक ने ही। (**ज़ोर से**) हाँ, किसी तालाब के किनारे, स्वर्ण के समान रग·· ·· ··

त्रिदिव—मैं नहीं देख सका। मेरे पीछे से तीर की तरह दौड़ता हुआ चला गया। घनी घास में से निकल कर भागा था। मै पीछे फिर कर सिर्फ अपने मित्र को ही देख सका।

त्रिपिटक—पैर का चिह्न तो तुमने भी देखा है।

प्रथम प्रहरी—ठीक है। ज्यादा रात नही है। आप लोग विश्राम करे।

[दोनों प्रहरी बाहर जाते हैं। दीपक बुझा कर वे शय्या पर पड जाते हैं]

त्रिदिव—त्रिपिटक, कुछ भय सा जान पडता है।

त्रिपिटक—आश्चर्य ! आज तुम्हे हुआ क्या है, त्रिदिव ?

त्रिदिव—हम कहॉ आ फॅसे हैं !

त्रिपिटक—सो जाओ, त्रिदिव। आज रात को और न जाने कहॉ कैसे रहते। सो जाओ।

[हठात् दूसरे कमरे मे सुमधुर वाद्य-ध्वनि सुनी जाती है। उस स्वरलहरी के कम्पन मे निर्जन कुटीर स्वप्निल तन्द्रा के आवेश में पड जाती है। उस अतीन्द्रिय स्वर को सुनते सुनते त्रिपिटक को नींद आ गई। त्रिदिव का श्रम जाता रहा। धीरे धीरे संगीत रुक गया]

(कमरे के बाहर दोनों प्रहरियों में बातचीत)

प्रथम प्रहरी--मालूम होता है वे लोग सो गये।

द्वितीय प्रहरी—बडी मुश्किल है। इससे पहले दोनो कभी आये नही। फिर, इन दोनों में से एक ने उसे देखा नही। वह जरा कृश है—हृदय भी उसका जरा मृदु है।

प्रथम प्रहरी—बन्धु के साथ इस दुर्गम पथ को अतिक्रम कर के आया है। इसका उद्भ्रान्त बन्धु-प्रेम देख रहे हो?

द्वितीय प्रहरी—तो क्या उसने बन्धु को वापस ले जाने की कोशिश नही की?

प्रथम प्रहरी—कोशिश करने ही से क्या होता है। हरिण जिसे दिखाई देता है उसे तो माया मे भूल कर यहाँ आना ही होगा। और भी मनुष्य चाहता हू—व्रत सम्पूर्ण नहीं हुआ। महारानी को और भी मनुष्यो की आवश्यकता है।

द्वितीय प्रहरी—इन दोनों को ही ले जाओ।

प्रथमप्र हरी—यह नही होगा। हरिण ने जिसे रग में भुला दिया—वही माया से आच्छन्न है। उसी की जरूरत है। यह आया है बन्धु के प्रेम के बल पर!

द्वितीय प्रहरी—यह यदि लौट कर सब बात प्रकट कर दे, तो?

प्रथम प्रहरी—रास्ते मे से इसे भी भुला कर लाना होगा। हरिण जिसे रग में भुला न सका उसे मारने से हमारी साधना विफल होगी। उसी क्षण होगी हमारी पराजय!

द्वितीय प्रहरी—मनुष्य क्या मूर्ख है ? जभी देखा सोने का रग और ऐसे ही दौड़ पड़ा उसके पीछे !

प्रथम प्रहरी—मनुष्य के मन मे एक अदम्य वाछा है—वह नूतन को विजित करके अपने वश में करना चाहता है। पुरातन की समाधि पर नूतन की प्रतिष्ठा करना चाहता है। किन्तु बाहर का रग देखकर यदि वह भूलता है तो होता है उसका पतन। किन्तु, बस। हम लोग व्यर्थ समय नष्ट कर रहे हैं।

(काला पर्दा हटाकर प्रहरियों का प्रवेश)

त्रिदिव—कौन ? तुम लोग कौन हो ? क्या चाहते हो ? त्रिपिटक, त्रिपिटक, जागो। देखो, ये हमें मारने आये हैं, त्रिपिटक !

[त्रिदिव ने सोये हुए त्रिपिटक को ज़ोर से पकड़ लिया। दूसरे ही क्षण प्रहरी अन्धकार में अदृश्य हो गये। फिर धीरे धीरे वही संगीत शुरू हुआ। उसी की मूर्च्छना मे सारी प्रकृति स्तब्ध हो गई]

त्रिपिटक—**(जाग कर)** त्रिदिव, मुझे क्यो पुकार रहे हो ? क्या हुआ ? इस तरह क्यों कर रहे हो ?

त्रिदिव—**(जड़ित स्वर में)** दीपक जलाओ। ये हमें मारेंगे। तुमने हरिण देखा है······शीघ्र ·······

त्रिपिटक—क्या ? त्रिदिव, कह क्या रहे हो ? **(दीपक जलाकर)** कहीं तो कोई नही है।

त्रिदिव—**(शून्य कक्ष की ओर विह्वल भाव से देखकर)** मैंने स्पष्ट देखा है—काले पर्दे की आड़ मे········

त्रिपिटक—(काला पर्दा हटाकर) कहाँ—कुछ भी तो नहीं है। सिर्फ दीवाल है—सख्त दीवाल। त्रिदिव, तुमने स्वप्न देखा है। दिन भर की थकावट है—सो जाओ।

त्रिदिव—(रूखे स्वर मे) मैंने देखा है—यह स्वप्न नहीं है··· ·· ··

[त्रिपिटक सो गया। संगीत त्रिदिव को अवश करके मृदु से मृदुतर होता हुआ निस्तब्धता मे मिल गया। कुछ देर शान्ति—सिर्फ त्रिपिटक के निःश्वासों का शब्द]

(दोनों प्रहरियों की बातचीत)

द्वितीय प्रहरी—जान पडता है—इस बार सो गया।

प्रथम प्रहरी—इस बार विफल होने पर हममे शक्ति न रहेगी।

द्वितीय प्रहरी—ऐसी बिपद् मे कभी न पडे थे।

[त्रिदिव सिमटा हुआ सुन रहा था। काला पर्दा हटा कर प्रहरियों के प्रवेश करते ही वह अपने शरीर की सारी शक्ति एकत्र करके चिल्ला उठा। दूसरे ही क्षण प्रहरियों ने त्रिदिव को हाथों पर उठा लिया]

प्रथम प्रहरी—आज हमारी प्रथम पराजय है। बन्धु के प्रेम ने उसे बचा लिया। ले चलो इसे। यही हमारी पराजय का हतभाग्य निदर्शन है।

त्रिदिव—त्रिपिटक, त्रिपिटक, जागो।

[त्रिपिटक की नींद टूट गई। शय्या पर त्रिदिव नहीं था। दीवाल की दूसरी ओर उसकी आवाज़ सुनाई दी ·· ·· ··]

त्रिदिव—मुझे ये लिये जा रहे हैं, त्रिपिटक। ये मायावी हैं। हरिण दिखा कर मोह में डाल इधर खींच लाते हैं। तुम लौट जाओ, त्रि ....पि ....

त्रिपिटक—त्रिदिव, त्रिदिव, तुम कहाँ हो .. ..कहाँ... .....

[त्रिपिटक दौड़ कर बाहर आया। प्रकृति शान्त थी। दिन का प्रकाश चारों ओर छिटक रहा था। वायु शान्त, निश्चल... .....]

वनदेवी

[वनस्थली में अन्धकार गहरा होता जा रहा है। अरण्य में बड़े बड़े वृक्षों की श्रेणी आपस में सिर से सिर मिलाये खड़ी है। दो एक वन-फूल सिर पर से उझक कर देख रहे हैं कि पत्तों के रन्ध्र में सुनहले आलोक की शेष छटा अभी है या अन्धकार में मिल गई। पक्षीगण का कलरव धीरे धीरे कम हो रहा है। शुक्ला त्रयोदशी का चाँद पत्तों की आड में से अभी भी नहीं निकला है। वन के लता-पत्तों, फूल-पल्लवों में आपस में कानाफूसी शुरू हुई।]

मधुमालती—(सन्ध्या के बाद से ही जैसे मलिन सी होती आ रही हो) क्या सचमुच आज आवेगी?.........

सन्ध्यामालती—जानती नहीं हो.........आज ही तो शुक्ला त्रयोदशी है।

मधुमालती—नीद के भार से मेरी पलकें दबी जा रही हैं—कल मुझसे सब हाल कहना।

सन्ध्यामालती—मैं कैसे कह सकूँगी ? मैं तो सारी रात भी न जाग सकूँगी। तुम जिस वक्त जागोगी उस समय मैं सोती रहूँगी। ·········हाँ, चम्पा से कह दूँगी। वह तुमसे सब कहेगी।

मधुमालती—सब बात क्या सब के मुँह से अच्छी लगती है ? मैं तुम्हारे मुँह से ही सुनूँगी। कल इसी समय मुझसे कहना। कहानी सुनते सुनते सो जाना कितना अच्छा लगता है !··· ·····

[थोड़ी दूर पर चाँद की रजत छाया सरोवर की तरंगों पर पड़ रही है। हज़ारों जल-कमल आँखें मिटमिटा कर उसकी ओर देख रहे हैं। पुलक से उनका अंग सिहर सिहर उठता है। उनके हृदय में संचित शिशिर-कणों में प्रतिबिम्बित हज़ारों चन्द्रों का शुभ आविर्भाव—उनके मृदु आनन्द-कल्लोल से सरोवर की जल-लहरी झंकृत सी हो रही है।]

कमल—कब आवेंगी वे ? क्या तुम लोग जानते हो ?

अरविन्द—द्वितीय प्रहर बीतने से पहले नहीं।

कमल—क्यों ? इतनी देर क्यों ?

पुण्डरीक—वन में अमावस्या की रात्रि से ही प्रकाण्ड बडे बडे दैत्य-दानव रात रात भर जाग कर पहरा दे रहे हैं।

उत्पल—पहरा क्यों दे रहे हैं ?

नलिन—वे देवी को पकड ले जाने के लिये आये हैं।

राजीव—देवी को पकड़ लेंगे !·········क्या कह रहे हो तुम ?

पुण्डरीक—हाँ, पकड़ ले जाने ही को तो वे आये हैं। ·········

शतदल—तुमसे किसने कहा यह सब ?

पकज—उस दिन शहर से कई आदमी आये थे। वही आपस मे ऐसा कह रहे थे।

कमल—हमने तो नही सुना।

पकज—रात भर जागने के कारण उस समय तुम सब सो रहे थे।

[प्रकाण्ड बड़े बड़े पेडों से रगड खा खा कर बकुल सैकडों फूल वन-पथ में गिरा देता है। कदम्ब की रेणु से देवी के आगमन का मार्ग भर गया है। बेला और जूही की अधखिली कलियाँ कुछ गिरी हैं—कुछ नही। कदम्ब और बकुल के बिछौने पर बेला और जूही की शुभ्रता—उस पर ज्योत्स्ना का आलोक पड कर जान पडता है जैसे सोने पर हीरे जड़े हुए हों। बहुत दिनों के पुराने वट, अश्वत्थ इत्यादि वृक्ष आपस में दो एक बाते कह लेते है—सेमल, बकुल, पलाश, कदम्ब इत्यादि आतुर से बार बार मस्तक उठा कर उत्सुकता पूर्वक देखते हैं।]

वट—आज सर्वसिद्धि त्रयोदशी है—देवी के मार्ग मे किसी आशका का भय नही है।

अश्वत्थ—रात्रि के द्वितीय प्रहर के बाद चतुर्दशी पडेगी। उस समय लग्न अशुभ है। कोई अकल्याण न हो ! ....

बकुल—(**पलाश के कान मे**) बूढे लोगो को सब से पहले "कु" सूझता है। मैं तो सोच भी नहीं सकता कि उनका कभी किसी प्रकार का अकल्याण हो सकता है।

पलाश—मालूम होता है दैत्य लोग इस समय सो गये हैं। ऐसे सुयोग मे अगर देवी आ जायँ तो कोई आशका नही।

सेमल—ईशान कोण में बादल दिखाई पड़ रहा है। यूथिका, कदम्ब, बकुल इत्यादि की गन्ध के साथ हवा मे मिट्टी की भी गन्ध जान पड़ती है। जान पड़ता है—बरसात होगी।........

बकुल—बरसात आने मे अभी काफी देर है—तब तक तो उत्सव समाप्त हो जायगा।

[वन के लता-पत्ते, फूल-पल्लव में एक मृदु वायु की चंचल सिहरन खेल सी जाती है। सन्ध्या-मालती के शीश पर, चम्पा बकुल की डाल पर, रजनी-गन्धा और जूही की मंजरी में एक कल्पित आवेग का हिल्लोल सा उठता है। ऊर्म्मिमाला के छन्द-लालित्य मे चरण रखते हुए पुष्प-रंजित वन-पथ पर देवी आ रही हैं। उस वनानी की सुषमा भरी प्रशान्ति की ओर देख देख कर तृप्ति नहीं होती। वनदेवी के सस्मित मुख-मण्डल की ओर देखते ही मस्तक नत हो जाता है। किसी की ओर कृपा-कटाक्ष डाल कर, किसी के साथ एक दो बात करके वे सब को सुखी करना चाहती हैं।]

वनदेवी—तुम लोग सोच रहे होगे—मैं अब न आऊँगी।

अश्वत्थ—मार्ग में कोई विघ्न तो न हुआ?....... ..

पलाश—राक्षस सब सो गये हैं—ऐसा जान पडता है।...... ..

वनदेवी—चुप, चुप। इस प्रकार चिल्ला कर बाते कर रहे हो! वे अगर जाग जायँगे तो फिर रक्षा नही है।

बकुल—ये सब कौन हैं, माँ, जो तुम्हे पकड़ ले जाना चाहते हैं? इन लोगों का उद्देश्य क्या है?

वनदेवी—इन बेचारो का दोष ही क्या है ! मनुष्य इन्हे जिस मार्ग पर चलाना चाहेगे उसी पर इन्हे चलना होगा। जिनके हाथ में शक्ति है वे अपनी ही छाया मे सब को चलाना चाहते हैं। इसी लिये मनुष्य अपनी अशान्ति को ला कर वन की इस स्निग्ध प्रशान्ति मे भर देना चाहते हैं।··· ·····

[वन के सारे वृक्षों मे एक आन्दोलन सा शुरू हो गया। मृदु वायु से हिल्लोलित वृक्ष-शाखाओं का वह धीर संचारण अब नहीं था—उसकी जगह था उद्वेलित चाचल्य। वट, अश्वत्थ, सेमल, बकुल, पलाश इत्यादि एक साथ दबे हुए स्वर मे बोल उठे—हम विद्रोही होंगे।]

वनदेवी—तुम्हारे पैरो में शृङ्खला पडी हुई है। अपनी देह का, अपने अन्तर का बन्धन मुक्त किये बिना केवल शाखा-प्रशाखाओ मे आन्दोलन करने से क्या लाभ होगा ?

वृक्षराशि—हम शाखा-शाखा मे तूफान पैदा करेंगे। मुट्ठी भर राक्षस हमारे इस विशाल अरण्य मे आकर क्या करेंगे ? उनके आते ही हम उन पर टूट पडेंगे—अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ हम उन्हे पीस डालेंगे।

वनदेवी—ये दानव रक्त-मास के दानव नही हैं जो तुम्हारे आत्म-दान से निर्मूल हो जायँ। ये हैं यन्त्र-दानव—मृत्युहीन ! अनन्त परमायु ले कर पृथ्वी को यन्त्रमय, शब्दमय, चक्रमय करने के लिये ही हुआ है इनका आविर्भाव।

[वनस्पतियों की चंचलता मन्द सी पडने लगी। लतायें इतनी देर तक कुछ न बोली थीं। इस बार उनका भी कंठ-शिंजन सुना गया।]

माधवी—हम सभी वन-लतिकाये यदि उनकी सहायता करें······ ··
हमारी प्रेरणा, शुभेच्छा और आशीर्वाद से भी क्या इन मृत्युहीन राक्षसों का नाश ·· ····

वनदेवी—तुम सब भी जाग रही हो·········

लतिकाये—(एक स्वर में) हाँ, माँ, हम जाग रही हैं।

[ज्योत्स्ना से सारी वनस्थली उद्भासित हो उठी है। प्रभात के क्रम में बीच बीच मे दो एक पक्षी बोल उठते है। सरोवर के कमल-वन मे आलोक की एक चादर सी फैली हुई है। ईशान कोण के मेघ की ओर देखकर सरोवर के किनारे खिलनेवाली रजनी-गन्धा आकुल सी हो उठी है।······वन-प्रान्त में एक कोलाहल सा सुना जाता है। सहसा वायु ने जैसे निःश्वास बन्द कर दिया। वृक्ष-पल्लव, लता-मंजरी, पुष्प-दल इत्यादि में एक अस्वस्तिकर निस्तब्धता सी फैल गई। निश्चल चकित सी बनानी में एक हुंकार सा फैलता जान पडा। देखते देखते कई एक विराट कृष्णकाय दैत्यों ने आकर वनदेवी को चारों ओर से घेर लिया।

वनदेवी—तुम सब क्या चाहते हो ?

[देवी की बात पर दैत्य लोग हँस पड़े। जो देवी के बिल्कुल समीप आ गया था उसने कहा—]

दानव—हम लोग यहाँ से कुछ लेने नही आये हैं।

वनदेवी—फिर तुम क्या करना चाहते हो ?

दानव—कुछ नहीं। तुम्हे वन्दिनी बनाकर अपने यन्त्र के राज्य मे रक्खेगे। ये सब जैसे हैं वैसे ही रहेगे। सिर्फ थोडा सा परिवर्तन

होगा। ·· अभी इधर उधर छितराये पड़े हैं—हम उद्यान-रचना कर के वहाँ इन्हे सुश्रृङ्खल बनाकर रक्खेंगे।

वनदेवी—किन्तु इस विनाश से तुम्हे क्या लाभ होगा?

दानव—विनाश कर ही कौन रहा है? ·····एक छन्द-हीन, सामञ्जस्य-हीन अरण्य को सजाना विनाश तो नही कहा जा सकता—यह तो श्रृङ्खला········

वनदेवी—तुम्हारी इस श्रृङ्खला का बन्धन जिस दिन छिन्न होगा, याद रहे, बनानी उस दिन प्रतिशोध लेगी।······

दानव—बीच बीच मे तुम्हारे लिये यदि इनका मन व्याकुल होगा तब तुम्हारी छाया-छवि लाकर इन्हे दिखा देंगे। उस सरोवर का किनारा बाँध दिया जायगा—इस असमान वन-पथ को एक विराट समता मे सजा दिया जायगा।······हम लोग कोई अनिष्ट करने नही आये हैं।

वनदेवी—जो मन मे आये, करो। इस वन का कोई भी तुम्हारे कार्य मे बाधा न देगा।······अश्वत्थ, बकुल, वट, पलाश—ध्यान रहे, यह मेरा अन्तिम आदेश है। जितने दिन तक मैं लौटकर न आऊँ, आघात के उत्तर मे प्रतिघात न करना—उदासीन रहना········

[हवा के एक तन्द्रिल झोंके के साथ कितने ही वन-पुष्प देवी के मस्तक पर आ पड़े। क्रमशः उस वायु ने तूफान का रूप धारण कर ताण्डव सा शुरू किया। कितने ही बड़े-बड़े वृक्ष टूट पड़े। दानवों के हुंकार और चीत्कार से सारा अरण्य काँप उठा। वनदेवी निश्चल

पाषाण-मूर्ति की भाँति वन्दिनी हो कर खड़ी थीं। एक असहाय आर्त्त-नाद मूर्च्छित से स्वर में कह रहा था—"माँ, हम तुम्हारी रक्षा न कर सके।" ईशान कोण में जो मेघ दिखाई दिया था वह क्रमशः चाँद के पास जा पहुँचा। शुक्ला त्रयोदशी के लग्न-शेष मे दुर्योग की यह महा-निशा और भी भयानक हो उठी। तूफान, वृष्टि, वन-वृक्षों के आन्दोलन और दानवों की ध्वंस-लीला से, वह पवित्र नैसर्गिक आनन्द की लीला-भूमि विषम ताण्डव की नरक लीला मे परिणत हो गई।

सन्ध्यामालती के मुख से मधुमालती उस दिन के उत्सव की कहानी न सुन सकी। · · वन-मर्मर में किसी की अतृप्त साधना की मर्मवाणी रुदन कर रही थी!]

प्रतिशोध

१

आबू पर्वत के एक रमणीय स्थान पर स्थित "राजवशी" होटल के उद्यान मे दो व्यक्ति लॉन पर बैठे बात कर रहे थे। गर्मी के दिनों मे राजपूताना, मारवाड, सौराष्ट्र इत्यादि देशों के धनाढ्य लोग किसी किसी समय दूर के पहाडी स्थानों पर न जाकर नजदीक के आबू को ही याद करते हैं। गर्मी के दिन नीचे शहरों की घनी आबादी मे कार्य की भीड़भाड मे न बिताकर पहाडो की शीतल हवा मे आराम और आमोद प्रमोद के साथ बिताना चाहते हैं। "राजवंशी" होटल के मालिक की दृष्टि में इस समय सीजन (Season) पूरे बहार पर थी। उसका सोचना ठीक भी था। रोज रोज आबू पर्वत पर सबेरे शाम मुसाफिरों की टोली की टोली उतरती।

"क्यो, डॉक्टर, इस समय स्टेशन से कौन आया?" दोनों में से जो युवक सा दिखाई पड़ता था उसने अपने प्रौढ़ साथी से पूछा।

"सुना है कि गुजरात का प्रख्यात चित्रकार सुरेश आज यहाँ आया है और कुछ दिन यही रहेगा।"

"कौन—सुरेश ? वह तो मेरा मित्र है।"

"तुम उसे कैसे जानते हो ?" डॉक्टर ने पूछा।

"मेरे पिता ने अपनी जागीर का इतिहास प्रकाशित किया था उस समय ग्रन्थ में देने को चित्र सुरेश से तैयार कराये थे। उस समय सुरेश हमारे यहाँ लगभग एक मास तक रहा था। मैं उसे तभी से जानता हूँ।" युवक जागीरदार रमेश ने डॉक्टर से चित्रकार के साथ अपने परिचय का इतिहास कह सुनाया।

"आज तो होटल मे एक स्त्री-मुसाफिर भी आई है।" डॉक्टर ने बात को आगे बढ़ाने की गरज से कहा।

"डॉक्टर, मालूम होता है—तुम सब बातो की खूब खबर रखते हो। कौन है यह स्त्री-मुसाफिर ?"

"प्रत्येक वस्तु की खोज रखने की मेरी आदत सी पड गई है। नई आई हुई रमणी का नाम तो श्रीमती सूर्यबाला है। लेकिन होटल के लोग उसे राजकुमारी के नाम से जानते हैं।"

"अकेली आई है ?"

"हाँ आई तो है अकेली ही। लोग कहते हैं—खूब पैसे वाली है और पढी लिखी भी है। होटल के नौकर आपस मे बातचीत करते थे कि अभी अविवाहिता है और दूसरे तीसरे वर्ष यहाँ आकर रहती है। देखो, यह तुम्हारा मित्र सुरेश इधर ही आता जान पड़ता है।" होटल

के मकान में से लॉन की तरफ आते हुए सुरेश की ओर डॉक्टर ने इशारा किया।

"ओ हो, सुरेश, तुम यहाँ!" चित्रकार का अभिनन्दन करते हुए रमेश ने कहा।

"अपनी तो जिधर तबीयत आई उधर ही चल पडने की आदत। मन मे आई कि आबू की सैर करूँ और आज मुझे यहाँ देख ही रहे हो। कहो हो तो अच्छी तरह न?"

"हाँ। ये मेरे मित्र हैं। डॉक्टरी करते थे पर इधर कुछ समय से कामकाज छोड़कर मनोविज्ञान का अभ्यास कर रहे हैं। बहुत विद्वान् व्यक्ति हैं। इनके साथ से सभी को आनन्द प्राप्त होता है।" रमेश ने चित्रकार को डॉक्टर का परिचय दिया।

"चलो, यह भी अच्छा ही हुआ। डॉक्टर साहब के सहवास का लाभ मुझे भी मिलेगा।"

"और मैं भी गुजरात के प्रख्यात चित्रकार का अभिन्न हो सकूँगा। हाँ, मुझे यह उचित जान पडता है कि हम शाम को फिर मिले। क्योंकि अब जलपान का वक्त हो गया है।"

डॉक्टर शर्मा की सूचना के अनुसार तीनो आदमी भोजनगृह की ओर चले।

२

वैशाख मास के स्वच्छ आकाश में चाँदनी छिटक रही थी। शीतल वायु मन्द मन्द बह रही थी। राजवंशी होटल के उद्यान में

स्त्री और पुरुष चाँदनी और वायु का उपभोग कर रहे थे। होटल में से निकलती हुई मधुर वाद्य-ध्वनि वातावरण को और भी रसमय बना रही थी। चारों ओर आनन्द का मद छलछला रहा था। किन्तु रमेश इस आनन्दोत्सव में भाग न ले सका। उसका मन आज अत्यन्त व्यग्र था। भोजन के बाद अन्य मुसाफिरों के साथ उद्यान मे जाने के बदले वह होटल की छत पर अकेला इधर उधर चहल कदमी कर रहा था। छत की मुँडेरी पर लटक कर नीचे एक वृक्ष के अन्धेरे मे बेंच पर बैठे हुए एक युवक-युवती की ओर वह बार बार देख लिया करता था। अगर किसी के देख लेने का डर न होता तो वह बराबर उन्हीं की ओर देखा करता। छत ऊँची होने के कारण वह उनकी बात न सुन सकता था—यद्यपि उसकी इच्छा तो बहुत थी कि वह उनकी बात सुन सके। बेंच पर बैठे युवक-युवती पर पडती हुई उसकी प्रत्येक दृष्टि के साथ उसके मन की व्यग्रता बढ जाती—हाथों की मुट्ठियाँ बँध जातीं और वह अधिक तेजी के साथ चहल कदमी करने लगता।

"क्यो रमेश, नीचे नही गये ?" मुँडेरी पर लटके हुए रमेश की पीठ पर हाथ रखते हुए डॉक्टर ने पूछा।

"नहीं, नीद आ रही थी—सोने की तैयारी कर रहा हूँ।" चौक कर रमेश ने जवाब दिया।

"झूठ! आँखो मे नीद तो नहीं जान पड़ती। किसी भारी चिन्ता में पडे हो—ऐसा जान पड़ता है।"

"नही, नहीं। ऐसा तो कुछ नही है। तुम नीचे नही गये ?"

"मैं तो चारों ओर घूम आया। फिर तुम्हें खोजता खोजता यहाँ भी आ पहुँचा। देखो, नीचे पेड की छाया मे तुम्हारा मित्र सुरेश और कुमारी सूर्यबाला बैठे हैं।"

"अन्धेरे मे तुम उन्हें देख सकते हो?"

"देख तो शायद नहीं सकता। लेकिन मै वहाँ जा कर आया हूँ इसलिये कहता हूँ। क्यो, राजकुमारी के साथ तुम्हारा परिचय हुआ या नही?"

"हाँ, आज शाम को मै उनसे मिला था। कुमारी बहुत सुशील और उदार स्वभाव की हैं।"

"और रूप—रूप की भण्डार हैं। आज होटल के सभी लोगो के मुँह से उन्हीं की बात सुनी जाती है।"

"डॉक्टर, तुम्हारा यह विषय नही है। तुम्हे ऐसी बातों की ओर ध्यान न देना चाहिये।" एक निःश्वास के साथ रमेश ने कहा।

"क्यो? जान पडता है तुम भी उस पर मुग्ध हो गये हो। सावधान, कोई भूल न कर बैठना। आज कल के युवकों का कोई ठिकाना नही है।"

"बुरा लगे तो माफ करना, डॉक्टर। पर राजकुमारी और मेरे विषय मे तुम्हे ऐसी गन्दी धारणा न करनी चाहिये। अब अगर तुम्हें बात जाननी हो तो लो, मैं कहे देता हूँ। अपने वश की वृद्धि के लिये, ससार के विकट मार्ग पर सहगमन के लिये मेरे सुख दुख की साथी बने ऐसी स्त्री की खोज मे मैं कितने ही दिनों से था। आज मुझे वैसी स्त्री

मिली है। मैं राजकुमारी के साथ विवाह के पवित्र बन्धन मे बँधना चाहता हूँ।" रमेश ने दृढता के साथ अपना निश्चय प्रकट किया।

"विवाह, सहगमन, वशवृद्धि! रमेश, तुम्हारा माथा खराब हो गया है। राजकुमारी विवाह करनेवाली स्त्रियो मे नही है। तुम्हारा चित्त इस समय ठिकाने नहीं है। तुम सोच विचार नही सकते। जाओ, इस समय सो रहो। कल बात करूँगा। देखो, नीचे से लोग ऊपर आ रहे हैं।" ऐसा कह कर रमेश के पागलपन पर कुछ चिन्तित सा होता हुआ डॉक्टर अपने कमरे की ओर चला गया।

रमेश को मूर्ख समझते हुए डॉक्टर की सलाह मे भलाई का अश खोज निकालने की शक्ति रमेश मे न थी। वह सोने के लिये अपने कमरे मे न गया। बल्कि एक ऐसी जगह खड़ा रहा जहाँ से वह सीढ़ियाँ चढ कर ऊपर आते हुए लोगो को देख सके।

रमेश की आयु पचीस वर्ष से ज्यादा न थी। पिता की मृत्यु के बाद विरासत मे मिली हुई जागीर का उपभोग करना—यही उसका जीवन था। उसके शरीर की गठन सुदृढ थी। गुजर बसर के लिये कमाने की चिन्ता तो उसे थी ही नही। चिन्ताहीन जीवन ने उसके शरीर की लुनाई और अगों की पूर्णता मे मादकता ढाल दी थी। कितनी ही रूपवती सुन्दरियाँ उसे वरमाला पहनाने को तैयार हो जातीं। पिता के जीवन-काल मे ही उसका विवाह हो गया होता, किन्तु उसकी शिक्षा में बाधा पड़ने के भय से विवाह का बिचार स्थगित रहा। पिता की मृत्यु के बाद उस पर विवाह के लिये दबाव डालनेवाला कोई न रहा। माता तो उसे नन्हा सा छोड कर ही स्वर्गवासिनी हो चुकी थी।

रमेश अपनी स्वतन्त्रता के उपयोग को जानता था। और मन लायक स्त्री न मिले तब तक विवाह न करने का उसने निश्चय किया था। अपने जीवन का साथी कैसा हो ? इस विषय मे भी उसके कुछ स्थिर विचार थे। किसी दूसरे ने यदि किसी स्त्री के विषय मे उससे कुछ कहा होता तो उसने उस स्त्री के सम्बन्ध मे सैकडो प्रश्न पूछे होते और उन प्रश्नों के उत्तर सुन कर शायद असन्तोष ही प्रदर्शित किया होता। किन्तु आज सबेरे कुमारी सूर्यबाला को देख कर वह सब कुछ भूल गया। राजकुमारी को देखते ही उसे ऐसा जान पडा कि कुमारी उसी की है—उसी के लिये उसकी सृष्टि हुई है।

कुमारी सूर्यबाला बाईस वर्ष की युवती होगी। उसके शरीर का गठन और अग अग की स्निग्धता उसके सौन्दर्य को और अधिक उत्तेजक बनाती थी। लम्बे लम्बे काले केश, चचल आँखे और मधुर आवाज पुरुषों को मुग्ध करने के लिये काफी थी। राजकुमारी खूब धनवान् थी, पढी लिखी थी, और देश-विदेश में पर्यटन की हुई थी। इस कारण पुरुषवर्ग उसका मान करता था। राजकुमारी का राज्य कहाँ है, उसका देश कौन सा है, उसके माता-पिता कौन हैं—इन बातों को कोई न जानता था। अगर कोई उससे ये बातें पूछता भी तो वह हँस कर टाल देती।

शाम को चाय पीने के बाद रमेश को राजकुमारी से मिलने की स्वीकृति मिली थी। प्रथम मिलन मे ही रमेश राजकुमारी का प्रेमी बन गया था और उस पर अपना प्रेम व्यक्त कर के विवाह की स्वीकृति लेना उसने निश्चय कर लिया। इतनी दूर तक पहुँचा हुआ रमेश उद्यान

मे वृक्ष के नीचे राजकुमारी को सुरेश के साथ एक बेंच पर बैठी हुई देख कर व्यग्र बने तो कोई आश्चर्य नही। और देर होने के पूर्व ही सुरेश को चेतावनी देना उसने अच्छा समझा। सुरेश आखिरी सीढी चढा ही था कि रमेश ने धीरे से उसे छत पर बुला लिया।

"क्यों रमेश, यहाँ अकेले क्यों खडे हो?" सुरेश ने छत पर कदम रखते हुए पूछा।

"अकेला न था। अभी तक डॉक्टर भी यहीं थे।"

"यह तुम्हारा डॉक्टर तो कोई विचित्र आदमी जान पडता है।"

"कैसे?"

"इसे दूसरो के विषय मे माथा पचाने की आदत सी पड गई है।"

"तुम्हे कोई अनुभव हुआ है क्या?"

"हाँ। आज शाम को वह मुझमे मिला था। कहता था कि मुझसे मिलने के पहले मेरे कितने ही चित्रा को उसने देखा था और उन चित्रो से मेरी रहन-सहन, मेरे चरित्र इत्यादि के विषय में उसे बहुत कुछ मालूम हो गया।"

"यह बात सच भी हो सकती है। डॉक्टर मनोविज्ञान का बडा अभ्यामी है।"

"राजकुमारी सूर्यबाला का भी कुछ ऐसा ही खयाल है। उनसे भी डॉक्टर शाम को मिला था।"

"हाँ, सुरेश, मैं तुमसे राजकुमारी के विषय में कुछ कहना चाहता था। तुम तो उसे खूब जानते हो"

" खूब तो क्या ! आज ही परिचय हुआ है। पर उससे अलग न होना पडे—ऐसी ही इच्छा हुआ करती है।"

"इसका क्या मतलब ? क्या तुम उसके साथ विवाह करना चाहते हो ?" रमेश ने उद्विग्नता पूर्वक पूछा।

"विवाह ! रमेश, मालूम होता है तुम मुझे अभी तक पूरी तौर से नही पहचान सके। मैं विवाह को तो मानता ही नहीं। प्रेम का परिणाम विवाह है—इस बात को मैं स्वीकार नही करता। मुझे तो बन्धन में बँधे हुए मनुष्य की अपेक्षा भ्रमर का जीवन अधिक पसन्द है। फूल मे मधु हो तब तक उस पर मँडराना और उसके बाद उसे छोडकर किसी दूसरे फूल पर बैठना। नित्य नित्य नवीन पुष्प, नवीन रग, नयी बास। नवीनता बिना जीवन मे है ही क्या ?"

"इस प्रकार तुम राजकुमारी के शील को नष्ट करना चाहते हो—क्यों ?" रमेश ने क्रोधित होकर पूछा।

' तुम्हे जो कहना हो, कहो, रमेश। पर उसका मन जीत लेने का प्रयत्न मैं अवश्य कर रहा हूँ।" हँसते हँसते सुरेश ने उत्तर दिया।

"तो अब अपनी मित्रता का अन्त"—रमेश ने दबी आवाज में कहा।

"क्यो, भाई ?"

"मैं राजकुमारी को प्यार करता हूँ और उसके साथ विवाह करना चाहता हूँ।"

"ठीक। हम कल शाम को फिर मिलेगे। कल सबेरे तो मुझे देर तक राजकुमारी के ही कमरे में रहना है क्योंकि मुझे उसका एक चित्र

बनाना है। पर कल शाम को हम फिर मिले इसके पहले यदि तुम्हारा विचार बदल गया होगा तो मुझे खुशी होगी। क्योंकि ऐसी बातो मे मैं बहुत स्वतन्त्र हूँ और शत्रु को अपने मार्ग मे रहने देना मैं पसन्द नही करता। अच्छा, नमस्कार। कल शाम को मिलूँगा।" ऐसा कहते हुए सुरेश अपने कमरे में चला गया।

३

"कुमारी, मेरी माँग को अस्वीकार करने मे कोई लाभ नहीं है।" कुर्सी पर से उठते हुए सुरेश ने कहा।

"धमकी दे रहे हो? पुरुष स्त्रियो को धमकावे नहीं तो और क्या करे?'सोफा में पड़ी हुई राजकुमारी ने धीरे से हँसकर कहा।

"धमकी समझो तो धमकी ही सही। मैं तुम्हे चाहता हूँ। तुम्हारे प्रेम मे विवश हो गया हूँ। कृपा कर मेरे हृदय को सन्तोष प्रदान करो। नहीं तो पागलपन मे मैं न जाने क्या कर बैठूँ।" सुरेश ने आजिजी भरी आवाज मे कहा।

"स्वार्थी पुरुष और कर ही क्या सकते हैं! मैं यदि इस समय तुम्हे आत्म-समर्पण कर दूँ तो कुछ समय बाद तुम्हारा मन मुझसे भर जायगा। उस समय तुम मुझे मुरझाये हुए फूल की तरह फेंक दोगे। और यदि इस समय मैं तुम्हारी बात न मानूँ तो ज्यादा से ज्यादा तुम मेरा खून कर सकते हो—यही न! ऐसा तो इतिहास मे होता ही आया है। यही आबू पहाड़ पर एक ऐसी ही घटना हो चुकी है। यहाँ आनेवाले मुसाफिरों से अज्ञात एक गुफा में आज शाम को तुम्हे

दिखाऊँगी और वहाँ अपनी बात साबित करूँगी। इस समय तो जिस काम के लिये आये हो वह काम शुरू करो।। तुम्हारी बात का आखिरी जवाब मैं कल शाम को दूँगी।" इतना कह कर राजकुमारी ने सुरेश को चित्र खींचने की आज्ञा दी और स्वय उसकी सूचना के अनुसार सोफा पर बैठ गई।

लगभग दो घटे तक चित्र खीचने का काम जारी रहा। सुरेश का कुशल हाथ कैनवस (Canvas) पर अजीब खूबी के साथ चल रहा था। चित्रकार की ओर से "मॉडेल" (Model)को कभी कभी मिलते हुए निर्देश के सिवा इस बीच दोनो मे कोई वार्तालाप न हो सका। कभी कभी सुरेश मत्रमुग्ध की भॉति राजकुमारी के मुख की ओर एकटक देख लेता किन्तु उस ओर से किसी प्रकार को उत्तेजना न मिलने से फिर अपने काम मे मशगूल हो जाता। अन्त मे कैनवस (Canvas) पर रेखाकृति तैयार हो गई। सुरेश ने चित्र को जॉचने के लिये कैनवस को अपने सामने रक्खा। कार्य की सफलता का सन्तोष उसके मुख पर दिखाई न देता था। किसी असमजस मे पडा हो—ऐसा जान पड़ता था।

"ऐसा तो कभी न हुआ था। तुम्हारी ऑखे चित्र मे ठीक नही आ रही हैं।" सुरेश ने कहा।

"फिर से प्रयत्न करो"—कुमारी ने उत्तर दिया।

"कई बार प्रयत्न किया पर ऑखे ठीक नही उतर रही हैं। देखो, ये ऑखे किसी क्रोधित स्त्री की ऑखो जैसी जान पड़ती हैं—निराशा ऑखो में तैर रही है। ये ऑखे तो तुम्हारी ऑखें नही हैं। परऐसी

आँखो वाली किसी स्त्री को किसी समय मैने देखा है। याद नही आता कहाँ देखा है।"

"होगा। मै ऐसा मान लेती हूँ कि तुम मेरी जैसी आँखे न बना सके। जाओ, अब शाम को मिलूँगी।"

"गुफा देखने हम दोनो अकेले ही चलेगे न?" जाते जाते सुरेश ने पूछा।

"नहीं। मैंने रमेश और डॉक्टर शर्मा को भी साथ चलने को कहा है।" और वह जाते हुए सुरेश के सम्मानार्थ उठ कर खड़ी हो गई।

४

राजकुमारी की आँखो ने सुरेश को मोहित कर लिया था। इस पर भी वह चित्र मे उन आँखो को ठीक क्यों न उतार सका—यह उसकी समझ मे न आता था। तीसरे पहर उसकी बेचैनी बढ गई। वह डॉक्टर और रमेश को चाय पीने के लिये अपने कमरे मे बुला लाया।

"मैंने राजकुमारी का चित्र खींचा है—देखोगे?" चाय पीते पीते सुरेश ने पूछा।

"हॉ, लाओ देखे।" डॉक्टर ने रमेश की ओर देख कर कहा।

टेबुल पर पडी हुई कैनवस (Canvas) पर से सुरेश ने पर्दा खीच लिया।

"राजकुमारी की मुखाकृति ऐसी नही है। ये आँखे उनकी नहीं हैं।" रमेश ने कहा।

"डॉक्टर, मनुष्य की कला से तुम उसके इतिहास को जान सकते हो। राजकुमारी के इस चित्र मे मैं ऐसी ही आँखे बना सका हूँ। उसकी असली आँखें आती ही नहीं। इसका क्या कारण है—कह सकते हो?" सुरेश ने जिज्ञासा के भाव से डॉक्टर की ओर देखा।

"ऐसी आँखो वाली किसी स्त्री मे तुम्हारी घनिष्ठता रही होगी—ऐसा जान पडता है। तुम उससे विरक्त हो गये—इस पर वह बहुत क्रोधित और निराश हुई होगी। उसके साथ अन्तिम भेट की जो छाप तुम्हारे मन पर पडी है वह अभी तक भूली नहीं। इसलिये वैसी आँखे ही तुम बना सके हो।"

"तुम्हारी बात मै नहीं मानता, डॉक्टर। ऐसी किसी भी स्त्री से मेरा सम्बन्ध नही रहा है।"

"तुम भूल गये होगे।"

"मेरी स्मरण शक्ति तीव्र है। मैं ऐसी किसी स्त्री को नही जानता।" दृढता पूर्वक सुरेश ने कहा।

"तो फिर उसके साथ तुम्हारा गत जन्म का परिचय रहा होगा"—डाक्टर ने कहा।

"गत जन्म! डॉक्टर, मै तो समझता था कि तुम मनोविज्ञान के जानकार हो। गत जन्म और इस जन्म की मेरी कला के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है! ऐसी वहम की बातो को जाने दो। कोई स्पष्ट कारण हो तो बताओ।"

"आत्मा अमर है और बारम्बार जन्म ले कर अलग अलग शरीरो मे प्रवेश करती है—यह बात क्या तुम्हे मजूर नही?"

"नही। मैं तो जो आँख से देखता हू वही मानता हूँ। आत्मा जैसी किसी वस्तु को मै नही मानता। मै तो इस जीवन मे इस देह को मानता हूँ—और कुछ नही। चलो डॉक्टर, अब कुमारी के साथ गुफा देखने जाने का समय हो गया। तैयार हो कर आओ। रमेश, तुम जरा बैठना। एक बात कहनी है।"

डॉक्टर के जाने के बाद सुरेश ने रमेश से पूछा—"क्यो, क्या निश्चय है ? क्या मित्र को दुश्मन समझना ? और दुश्मन को दूर करने मे मैं कुशल हू।"

"सुरेश, मेरी चले तो मै तुम्हे अभी पूरा कर दूँ। किन्तु पहले मै राजकुमारी से बात करना चाहता हू। अगर वह मुझसे विवाह करना स्वीकार कर लेगी तो मै तुम्हे मार डालूँगा।" रमेश ने अनुत्तेजित स्वर मे कहा।

"ठीक। तब तो उस वक्त तक हमारा मित्र बने रहना ही ठीक है। देखो, कल सवेरे तुम राजकुमारी के सामने अपनी माँग पेश करोगे। अगर वह तुम्हारी माँग स्वीकार करे तो उसी वक्त से तुम मेरे दुश्मन होगे और मैं तुम्हे दूर करने का प्रयत्न करूँगा। और अगर तुम्हारी माँग मजूर न हुई तो कल शाम को मै अपनी इच्छा उससे कहूगा। यदि वह मान ले तो फिर जैसा तुमसे बन पडे वैसा करना। तब तक अपने दोस्त ही बने रहेगे।"

"पर अगर राजकुमारी तुम्हारी बात न माने तो ?"

"ऐसी स्थिति की मैं कल्पना नही कर सकता। मेरे प्रेम की व्याख्या ही दूसरी है। स्त्री दीपक के समान है। पतगे की तरह उसके प्रेम की

ज्वाला मे जल कर भस्म होने ही मे मेरे प्रेम की सफलता है। इसलिये मेरी माँग के अस्वीकार होने पर क्या होगा—यह तुम सोच सकते हो। चलो, कुमारी और डॉक्टर राह देख रहे होंगे।"

५

"तुम्हे ऐतिहासिक अवशेषो को देखने और उनकी खोज करने का बहुत शौक है।" डॉक्टर ने कहा।

"मुझे शौक हो या मै उस विषय का अनुसन्धान करूँ—इससे क्या होना जाना है।" राजकुमारी ने शुष्क सा उत्तर दिया।

"क्यो ?"

"इतिहास या और किसी अन्य विषय का अध्ययन करने या किसी प्रकार की खोज करने का ठीका तो पुरुषों ने ही ले रक्खा है। उनके इस अधिकार पर यदि किसी स्त्री की नजर पडती है तो लोग उसकी हँसी उडाते हैं—किसी न किसी तरह उसे उस मार्ग से हटा देते हैं। आज के किसी भी विद्वान् पुरुष से यदि मैं कहू कि जहाँ हम इस समय खडे हैं वहाँ चार हजार वर्ष पहले एक चक्रवर्ती राजा का राजमहल था तो वह मेरी बात मानने को तैयार न होगा। क्योंकि एक स्त्री ऐसी खोज कर सकती है, यह बात उसकी कल्पना मे नही आ सकती।" राजकुमारी के शब्द शब्द मे पुरुष-जाति के लिये घृणा का भाव था।

"मैं तुम्हारी बात मानने के लिये तैयार हू। तुम प्रमाण दो।" डॉक्टर ने कहा।

"हम लोग जो गुफा देखने जा रहे हैं वहीं इसका प्रमाण मिलेगा। इस पहाड पर आनेवाले विद्वान् पुरुषो ने इस गुफा को देखने की परवाह कभी न की। किन्तु इस गुफा मे एक राज्य का सारा इतिहास दबा पडा है।"

गुफा की ओर जाने का मार्ग अत्यन्त विकट था। पहाड पर देखने लायक़ वस्तुओं की तालिका में गुफा का नाम न होने से वहाँ जाने का मार्ग नही तैयार हुआ था इसलिये राजकुमारी और उसके साथ के तीनों पुरुषो को वहाँ तक पहुँचने मे बहुत कष्ट हुआ। राजकुमारी गुफा से पूर्ण परिचित सी जान पडती थी। वही इस समय अपने साथियो की मार्ग-प्रदर्शिका थी। गुफा के पास पहुँचने पर उसने पत्थर की एक बडी शिला को किसी युक्ति से अलग हटाया। आने जाने के लिये एक द्वार सा हो गया। पहले स्वय और उसके पीछे डॉक्टर, सुरेश और रमेश क्रम से गुफा के अन्दर गये। गुफा मे हवा और रोशनी के लिये एक खिड़की थी जो घास और झाड झखाड से बन्द सी हो गई थी। डॉक्टर शर्मा ने अपनी टॉर्च (Torch) निकाली। बत्ती के प्रकाश मे उसने गुफा की दीवाल और छत की जॉच करनी शुरू की और सब लोग देख सके इस हिसाब से उसने जगह जगह प्रकाश फेकना शुरू किया।

"राजकुमारी, अन्दर की हालत देखते हुए तो जो तुम कह रही हो वही ठीक जान पडता है। गुफा चार हजार वर्ष पहले की हो सकती है।" डॉक्टर ने कहा।

"छत मे चित्र भी हैं।" राजकुमारी ने कहा। डॉक्टर ने चित्रो पर रोशनी डाली।

‘ किसी स्त्री और पुरुष का चित्र जान पडता है”—रमेश ने कहा।

“स्त्री का चित्र पहचाना हुआ सा जान पड़ता है।” सुरेश ने कहा। उसकी आवाज मे घबराहट के चिह्न थे।

“हूबहू राजकुमारी का चित्र है—सिर्फ आँखो मे समानता नहीं है।” रमेश ने कहा।

“आँखे तुम्हे आज सबेरे के खीचे हुए चित्र जैसी नही लगती ?” कुमारी ने सुरेश से पूछा।

“हाँ, हाँ, ठीक वैसी ही। कैसा विचित्र साम्य है !”

“पर इस चित्र मे के पुरुष को भी कही देखा हो ऐसा जान पडता है।” डाक्टर ने पुरुष के चित्र पर प्रकाश डालते हुए कहा।

“यह तो हूबहू सुरेश का चित्र है”—ऐसा कहते हुए राजकुमारी ने एक तीक्ष्ण दृष्टि सुरेश पर डाली।

‘ और छत के चित्रो की अगल बगल कुछ लिखा हुआ भी है”—डॉक्टर ने छत पर चारों ओर प्रकाश डालते हुए कहा।

“हाँ, इस पुरुप और स्त्री का इतिहास लिखा हुआ है। इतिहास उसी समय की लिपि में खोदा गया है। और अगर तुम्हारे जैसे विद्वान् पुरुषो को अपमानजनक न प्रतीत हो तो इस लेख का सार मैं बता सकती हूँ। मैंने इस लिपि का अभ्यास किया है।”

“कहो तो देखें—”डॉक्टर ने कहा।

‘ लगभग चार हजार वर्ष पहले किशोरसिंह नाम का एक महापराक्रमी राजा इस प्रदेश में राज्य करता था। और पुरुषों की भाँति वह भी अपने को स्त्री जाति का मालिक समझता था और उसके महल में

उसकी विषय वासना के सन्तोष के लिये अनेक रूपवती स्त्रियाँ लाई जातीं। उसकी पाशविक वृत्ति दिन पर दिन बढ़ती जाती। नित्य नई नई रमणियाँ उसकी सेवा मे हाजिर की जाती। एक समय मेनका के हृदय मे राजा के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया। वह अपने प्रिय को सच्चे दिल से चाहने लगी। और इसी कारण राजा और इस स्त्री का सम्बन्ध अधिक दिन तक स्थिर रहा। पर अन्त मे विलासी राजा का दिल उससे फिर गया। और दूसरी स्त्रियो की भाँति उपेक्षिता होकर महल मे रहने को मेनका तैयार न थी। उसने राजा की मिन्नतें की और प्रेम के बदले प्रेम का प्रतिदान माँगा। राजा का हृदय नही पसीजा और एक दिन आवेश मे आकर उससे पिंड छुडाने के लिये उसने मेनका के हृदय मे खजर भोक दिया। खजर भोके जाने के बाद मेनका की आँखों मे जो परिवर्तन हुआ वही इस चित्र मे चित्रित है। देखो, उसकी आँखो मे क्रोध और निराशा मूर्तिमान सी जान पडती है। राजा किशोरसिंह की मृत्यु के बाद यह गुफा उनके कठोर कृत्यों की स्मृति स्वरूप बनाई गई थी। इसमे साथ साथ यह भी लिखा है कि इस गुफा के तहखाने मे किशोरसिंह की सारी सम्पत्ति रक्खी हुई है। डॉक्टर, जो कोई भी इस गुफा के तहखाने को खोलने की गुप्त रीति खोज सके वह इस अटूट सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है।"

राजकुमारी की बात सुनकर सभी स्तब्ध रह गये। कोई कुछ न बोला। डॉक्टर ने टॉर्च बन्द कर दिया और गुफा मे अन्धकार फैल गया। सुरेश अन्धकार सहन न कर सका और अन्त मे भयभीत आवाज मे बोला—"चलो, बाहर चलें। इस गुफा मे मेरा दम घुट रहा है।"

चारो बिना कुछ कहे गुफा से बाहर निकले। राजकुमारी ने पत्थर पहले ही की तरह लगाकर गुफा के प्रवेशद्वार को बन्द कर दिया। सब लोग होटल की ओर लौटे। डॉक्टर रह रह कर सुरेश के मलिन मुँह की ओर आश्चर्य के साथ देख रहा था।

६

सारी रात सुरेश को नीद न आई। उसे ऐसा जान पडा जैसे उसकी छाती पर कोई भार सा पडा हो। मेनका का चित्र बारम्बार उसके समक्ष आता और उसका हृदय उसे निरन्तर प्यार करना चाहता। पर·······"मैं तो किशोरसिह नही—मैं सुरेश हूँ। किशोरसिह राजा थे—मैं चित्रकार हूँ।" ऐसे शब्द बारम्बार उसके मुँह से निकल जाते।

प्रभात की प्रथम किरणो के साथ उसके हृदय मे कुछ कुछ साहस का सचार हुआ। नित्यकर्म और स्नानादि से निवृत्त होकर वह राजकुमारी के कमरे मे गया। राजकुमारी से कुछ बात करके वह उद्यान मे जाने को नीचे उतरा। उद्यान मे रमेश उसकी राह देख रहा था।

"क्यों रमेश, क्या जवाब मिला ?" उसने पूछा।

"वह मेरे साथ विवाह करने को तैयार नही"—रोती हुई सी आवाज मे रमेश ने उत्तर दिया।

"राजकुमारी आज शाम को मुझे उत्तर देगी। हम दोनों ही शाम को फिर गुफा की ओर जानेवाले हैं। उसी समय उत्तर देने का उसने वचन दिया है। इसलिये हम लोग कल सबेरे मिलेगे। आओ रमेश,

मित्रभाव से आखिरी बार हाथ मिला ले।" सुरेश ने हाथ बढाया। रमेश की इच्छा तो हाथ मिलाने की न थी पर उसका हाथ स्वय ही आगे बढ गया। हाथ मिला कर सुरेश हँसता हुआ चला गया पर उसे अपने हृदय मे ऐसा जान पडा कि यह उसने रमेश से आखिरी बार हाथ मिलाया है।

७

शाम को छै बजे कुमारी सूर्यबाला और सुरेश राजवशी होटल के मुख्य द्वार से निकले और पहले दिन जिस मार्ग से गये थे उसी मार्ग से गुफा की ओर चले। गुफा पर पहुँच कर कुमारी ने पत्थर खिसकाया और सुरेश को अन्दर जाने का इशारा किया। फिर स्वयं अन्दर जा कर उसने द्वार को पत्थर से पूर्ववत् बन्द कर दिया।

"कुमारी, मुझे क्यों परेशान कर रही हो? मेरी प्रार्थना स्वीकार करो।" सुरेश ने विनीत स्वर मे कहा।

"गत जन्म मे तुमने मुझे दगा दी। अब फिर तुम्हारे हाथों मे आत्म समर्पण करूँ?"

"गत जन्म में?" सुरेश ने घबडा कर पूछा।

"हाँ। गत जन्म में तुम राजा थे। अपने इच्छानुसार कार्य कर सकते थे। तुमने कितनी ही स्त्रियों का जीवन नष्ट किया। मै तुमसे प्रेम करती थी। पर मेरे प्रेम के बदले मुझे खजर की धारा से आलिगन करना पड़ा। अपने शरीर के जिस भाग मे मैंने तुम्हे स्थान दिया था वही खंजर भोंक कर तुमने मेरी जान ली थी। मैं ही मेनका थी।

देखो, यही तुमने जख़म किया था। मैं अपने खूनी की तलाश मे थी—आज उसका पता लगा है।" कुमारी ने अपना वक्षस्थल खोल कर दिखाया। किसी घाव का निशान वहाँ मौजूद था।

"कुमारी, कुमारी, ये सब पागलपन की बाते हैं। मालूम होता है डॉक्टर ने तुम्हे बहका दिया है। पुनर्जन्म की बातो मे तत्व नहीं है। अपने साथ इन चित्रो की समानता केवल एक आकस्मिक घटना है। आओ, देखो, प्रेम की अग्नि मेरे हृदय मे सुलग रही है। मेरी प्रार्थना स्वीकार करके मुझे शान्ति की भीख दो।" सुरेश कुमारी की ओर बढा।

"किशोरसिंह, खबरदार। मेरी ओर न आना। फिर एक पुष्प को मसलने की चेष्टा न करना। ऐसा नही हो सकता। तुम्हे तुम्हारे प्रेम का प्रतिदान मिले इसके पहले मेनका अपने बैर का बदला तुम्हे देना चाहती है। देखो, इधर आओ। मेरे समीप खडे रहो। मेनका की आँखो की ओर देखो। कितना क्रोध है उनमें—प्रिय के द्रोह के कारण! कितनी निराशा है उनमें—प्रिय की कठोरता के कारण! इधर आओ। अच्छी तरह देखो। और नजदीक आओ।"

रस्सी से बँधे हुए के समान सुरेश कुमारी के समीप खिंचता चला गया। अन्त मे दोनों एक साथ एक ही पत्थर पर खडे थे। बग़ल की दीवाल में छिपी हुई किसी चीज को राजकुमारी ने दबाया। साथ ही नीचे का पत्थर सरक गया। दोनो धमाके के साथ नीचे के तहखाने में गिर पडे। ऊपर का पत्थर अपनी असली स्थिति में आ गया।

"कुमारी, कुमारी, हम लोग कहाँ आ गये?" सुरेश ने चिल्ला कर पूछा।

"उसी जगह, जहाँ तुमने मेनका का खून किया था। किशोर, प्रिय किशोर, देखो, तुम्हारी मेनका तुम्हारे सामने खडी है। यह तुम्हारा सारा वैभव जैसा का तैसा यहाँ पड़ा है। रत्न कैसे चमक रहे हैं! प्रिय किशोर, एक बार यह पहलेवाला रत्न-जटित मुकुट पहन कर मुझसे मिलो। मैं तुम्हारे लिये तरस रही हूँ। युग-युग की प्यास मेरे हृदय मे जल रही है। देखो, अपनी मेनका को निराश न करो।"

सुरेश ने पास ही पडे हुए मुकुट को अपने सिर पर रक्खा और कुमारी की ओर बढा। "कुमारी, मैं मुकुट पहन कर आया हूँ। अब मेरे पास आओ।"

"हाँ, तुमने मुकुट पहना न! कितने सुन्दर जान पड़ते हो! मुझे भी तुम्हारा खंजर मिल गया है। आओ, मेरे प्रियतम।" वाक्य पूरा करते करते कुमारी ने खजर सुरेश की छाती मे भोक दिया। सुरेश चीख कर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

'मेनका, मेनका, मुझे क्षमा करो। मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ। आओ, प्रिये, मेरे पास...... ..." सुरेश के अन्तिम क्षीण शब्द धीरे धीरे मृत्यु की निस्तब्धता में मिल गये।

"· ... ·प्रियतम, किशोर, वैर और क्षमा की विधि पूरी हो गई। बाकी रहा प्रेम। मैं भी तुमसे मिलने के लिये आती हू, मेरे स्वामी!" ये राजकुमारी के अन्तिम शब्द थे। सुरेश के रक्त मे भीगा हुआ खजर उसकी छाती मे उसी जगह घुस गया जहाँ जन्म-जन्मान्तर का

दाग़ आज भी मौजूद था। मृत्यु के समय सुरेश का शव कुमारी के आलिंगन-पाश में था!

× × ×

"पर ....पर यह हुआ कैसे, डॉक्टर? और .. ..और सब जानते हुए भी तुमने ऐसा होने दिया!" एक निःश्वास के साथ रमेश ने कहा।

"मैं कैसे रोक सकता था, रमेश! मैंने तुमसे कहा नही था कि राजकुमारी उन स्त्रियो मे नही है जो विवाह के बन्धन मे फँसे। उसकी आत्मा तो अनन्त काल से सुरेश के साथ बँधी हुई थी। उसे तो सुरेश से अथवा किशोरसिंह से अपने खून का प्रतिशोध लेना था। प्रतिशोध के लिये ही उसका जन्म था। और अपना काम पूरा करके वह इस ससार को छोड कर चली गई। .. ..पर रमेश,.........यह बात सिर्फ हम दोनों ही तक रहे!"

और दूसरे दिन लोग चित्रकार सुरेश के साथ राजकुमारी सूर्यबाला के भाग जाने का किस्सा अखबारों मे दिलचस्पी के साथ पढ रहे थे!

———

कहानी

शहर के जीवन मे भाग्य से ही किसी प्रसग को महत्व दिया जाता है और अगर दिया भी जाता है तो तिल का ताड़ हो जाता है। ऐसा जीवन—अति प्रवृत्तिमय जीवन यदि समय पा कर नीरस जान पडे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

गाँवो मे निवृत्ति होती है—अति निवृत्ति—इसलिये शान्ति—व्यवसाय का कोलाहल नही—एक दूसरे के काम मे—जल के शान्त प्रवाह की भाँति चला जाता है जीवन ! ऐसे रहन सहन में ही ग्राम्य-जीवन की सौम्यता है और सार्थकता !

जीवन के प्रभात के समान होता है गाँवों मे उषाकाल। पक्षी तरह तरह की अटपटी भाषा में आनन्दमय सगीत की ध्वनि गुँजाते अपने लिये भोजन की खोज मे जगह जगह उडे जाते हैं। सारा श्रमजीवी जगत् अपने अपने काम में लग गया है।

इस मनोहर सुनहरे ग्राम्य-जीवन को आँखो मे भर लेने की चेष्टा करता हुआ सा मैं अपनी चौपाल मे बैठा हुआ था। एक पोस्टमैन आया। मेरा नाम पुकार कर इधर उधर सतर्क दृष्टि डालते हुए—क्योंकि मै उसके लिये एक नया व्यक्ति था—मेरा पत्र दे कर चला गया।

मैं पत्र पढ कर कुछ विचार मे पड गया। इस पत्र से जैसे कोई प्रेरणा मिल रही हो—उस भाव से मैं उसे उलट पलट रहा था—इतने मे गोपाल काका ने पुकारा—

"अरे........मुरली!"

"ओहो, गोपाल काका, आओ, बैठो न।" मैं बोल उठा।

".........तो भाई, किस खयाली दुनिया के फेर मे पडे हुए हो तुम?"

"नही, नही, काका। अपनी भी कोई दुनिया कैसी!"

गॉव के लोग ग्राम्य जनता के जीवन की खूब खबर रखते हैं। पोस्टमैन गॉव का ही आदमी था—इसलिये किसके यहॉ गया और क्या नवीन समाचार है, इत्यादि बाते जानने और पूछने का कौतूहल गॉव के लोगों में स्वाभाविक था। मुझे पत्र दे कर जाते हुए पोस्टमैन को गोपाल काका ने देखा था।

"........पर आज सबेरे सबेरे ही डाक! यहॉ आ कर भी कौन व्यापार फैला दिया, भाई!"

"काका, मैं तो अभी पढता हूॅ। व्यापार फैलाना तो बड़ों का काम है।"

"फिर यह डाक किस बात की ? और उसी के विचार में तुम निमग्न से जान पडते हो। है क्या कोई नई बात ?"

"नहीं, नहीं, काका। नई बात क्या होती। यह तो एक मासिक पत्र के व्यवस्थापक का पत्र है।"

"हाँ ! तो उसका पत्र तुम्हारे नाम क्यों ?"

"देखो, काका। एक बात कहता हूँ। मैं कभी कभी गल्प लिख लिया करता हूँ। इसी लिये इस पत्र मे एक गल्प लिख भेजने के लिये निमन्त्रण मिला है।"

"गल्प !"

"हाँ, गल्प—कहानी !"

"कहानी भी क्या लिखी जाती है ?"

"तो फिर......?"

"कहानी तो कही और सुनी जाती है। अरे पागल, कहानी भी क्या कभी लिखी जाती है !"

"तो देखो न, काका। मैं तो इसी उलझन मे पड़ा हूँ। इस मासिक पत्र के लिये कहानी कहाँ से लाऊँ ?"

"अरे भाई, तुम भी किस झंझट मे पड गये ? शहर से गाँव मे आये और भी यह झझट !"

"... .....पर काका, लिखनी तो है ही—उस पर भी कोई अच्छी सी।"

"... . ..पर मुरली, मैं यह पूछता हूँ कि इतनी बडी बात लिखी कैसे जाती होगी।"

"क्यों ? देखो न, काका, यों कलम उठाई और लिखते चले गये। फिर यही पीछे छाप दी जाती है।"

"पर भाई, बात भी क्या लिखी जाती है ? रात की रात जिस बात मे गुजर जाती है वह भी क्या लिखी जा सकती है !"

"रात की रात !"

"हॉ, भाई, हॉ। रात की रात। फिर क्या ये दो सफे भर गये और कहानी हो गई !"

"तो काका, हमारी तो ऐसी ही कहानी है। उस पर भी, देखो न, लिखी नही जाती।"

"क्यो, बचपन मे क्या सुनी नही ?"

"गोपाल काका, सुनी हुई या पढी हुई काम नहीं आती।"

"फिर ?"

"फिर क्या ? हमारी कहानी तो मौलिक होनी चाहिये, मौलिक।"

"मौ···उ···लिक ! यह तो मैं नही समझा, भाई। यह मौलिक क्या हुई ?" और गोपाल काका जोर से हँस पडे।

"मौलिक ! नहीं समझे, काका ? मौलिक कहते हैं बिल्कुल नई को।

"बिल्कुल नई—मेरी दाढ़ी की तरह !······अरे पागल, बिल्कुल नई भी क्या कोई बात है ? बातें तो न मालूम किस वक्त से चली आ रही हैं।······लो, इसमे हँसने की कौन सी बात है। ·····अच्छा, लो, मैं कहता हूँ, तुम लिखो। तुम नवयुवकों मे लिखने का जोश अधिक है।"

मैं सचमुच लिखने को तैयार हो गया। समझा—कोई नये ढग की ग्राम्य जीवन की रसिक वार्ता होगी। इतने ही मे—

"एक था राजा"—काका बोले और मैं अपनी हँसी को किसी तरह न रोक सका!

"लो, हँस क्या रहे हो! लो न, दूसरी कहूँ। इसे तुम कभी न सुने होगे। 'एक नगर का द्वार था और उस द्वार पर मोर बैठा करते थे"—

अब तो मुझे स्पष्ट ही कहना पडा—"काका, देखो। हमारी कहानी ऐसी नहीं होती। कहानी अर्थात् गल्प—कहीं दो प्रेमियो की—कही दो व्यक्ति प्रेम करके बेवफा हो गये हों उनकी, अथवा प्रेम करके अनुकूलता न प्राप्त होने पर आत्मघात करने की, और · · "

"लो, रहने दो बस। ऐसी भी कोई बात होती है? यह तो पागल-पन है पागलपन!"

"फिर तुम्हारी कहानी कैसी है, काका?"

"······देखो, आज तुमने बात चला ही दी तो तुम्हे पूरी पूरी बात बताता हूँ।·······हम जब छोटे थे तो रोज रात को खाना खाने के बाद आँगन में बैठते थे। बडे बूढ़े कहानी कहते। उन बातों को याद करके आज मेरे मुँह में पानी आता है और रोमाञ्च होता है। रात रात भर कहानी चलती। यों (चुटकी बजा कर) खडी की खडी रात निकल जाती पर पलक न झपती। तुम लोग तो आज एक दो कहानी कहते सुनते घबरा जाते हो—हमारी मूर्खता पर हँसते हो—और तब बातो में बात—कहानी में कहानी निकलती चली जाती और महीनों तक यह शृङ्खला न टूटती। अगम निगम की बाते होती थ, भाई!"

"पर काका, इतनी बडी कहानी लिखी कैसे जा सकती है ?"

"क्यो ? लिखी क्यो नही जा सकती ? पर हॉ, वे लिखनेवाले और कहनेवाले आज कहॉ !" काका के मुख से एक निःश्वास निकल गया और उसी मे उनके उज्ज्वल भूतकाल के साथ हमारे निर्बल वर्तमान की तुलना हो गई ।

"क्यों गोपाल भाई, आज मुरली के पास कैसे"—बॉहो में मिर्जई डालते उधर से जाते हुए गोकुल काका ने पूछा ।

"यह मुरली कहानी गढ रहा है । मैं भी घडी भर यहॉ बैठ गया ।"

"इससे कहो, पहले कलम का खत ठीक करना सीखे, खत ।" और न जाने क्यो हम तीनों ही हॅस पडे । गोकुल काका जैसे जिस गति से आये थे उसी प्रकार चले गये ।

"क्यो गोपाल काका ······ ··" पर मैं रुका और देखा कि काका की दृष्टि कही और ही लगी हुई है । मैं फिर बोला—"क्या देख रहे हो, काका ?"

"और दूसरा क्या ? वह देखो—तुम्हारी काकी उस टोली मे ·· ··"

गॉव की गृह-देवियॉ पानी भर कर घर आ रही थीं । काकी के सिर पर एक बाल भी काला न था फिर भी उनका घडा सब से भारी था । गोपाल काका की ऑखे यह देख कर गर्व्वोन्नत हो रही थीं ।

मैंने हॅस कर कहा—"काका बूढ़े हुए फिर भी रसिकता न गई !"

"अरे, बूढा कैसा ! बूढ़े हों मेरे दुश्मन ! यह तुम्हारी काकी—इसका स्वभाव तो जानते ही हो । ·· ·· ··नही तो अभी एक युवती से और · · ··"

"अरे, रहो काका, कह आने दो काकी से जरा यह बात।"

"कहा, रे, कहा बस। अरे, यह तो मैंने यों ही कह दिया। कहने ही से क्या कुछ हो जाता है!…… ……ऐसा तो तुम्हारे जैसे शहरियों को ही शोभा देता है। शक्ति बिना भक्ति करने जाय और भव भव में भटकता फिरे।"

"……… पर काका, कहानी कह रहे थे न?"

"पर पागल, यह सब कहानी ही तो है।"

"अरे काका, ऐसी बाते भी क्या छुपती हैं?"

"तो फिर क्या राख छुपती है! सच्ची बातों की उपेक्षा और बनावटी बातो में आनन्द! मुझे याद है—एक दिन मैं यहाँ आया था। तुम घर मे नही थे। घड़ी भर बैठा बैठा तुम्हारी मेज पर पड़ी हुई एक नोट-बुक को देखा किया। भीतर लिखा था एक सुन्दर 'गल्प'—कहानी के बदले 'गल्प'। क्या नये नये नाम निकलते जाते हैं आज कल! पर हाँ,—क्या कहता था—न तो उसके सिर न पैर, बस दो सफे मे समाप्त। कुछ नई बात थी।"

"हाँ, नई थी न! मैंने कहा न था कि हमारी बाते बिल्कुल नई होती हैं—जिन्हे किसी ने न तो सुना हो और न पढा हो।" मैंने जरा उत्साह से कहा।

"अरे, जाने भी दे, भाई। यह भी क्या कोई जादू है! इस दुनिया मे भी फिर नई!………भगवान् ने यह दुनिया बनाई—बस इतना ही नया—बाकी सब पुराना।"

"हाँ, काका। तुमने यह तर्क की बात कही। यह जीवन ही प्रत्यावर्तन है फिर जीवन की बाते भी तो पुरानी—नई कहाँ से होंगी यहाँ!"

"अभी समझा है, पागल। यह नया नया का हल्ला! हमारे पूर्वज जो कुछ कर गये उसे हम देखते हैं—उसे देख कर हम कुछ करते हैं। और ·······"

"क्यों, रुक क्यो गये, काका?"

"भाई, जरा सा रुकूँ नहीं तो क्या करूँ?"

"क्यों?"

"क्यों, रुकूँ नही तो क्या करूँ? अब हम लोग जो कर रहे हैं उसे देख कर तुम कुछ करोगे क्या?"

"तो तुम्हारे कहने का मतलब यह है कि हम कुछ नई बात करेंगे। अब आये काका राह पर। क्यो, हुई न यह नई बात!"

"चलो, जाने दो आज कल की नई बात। क्या रक्खा है इनमे!"

" ········पर काका, तुम कहानी तो कहते नही। और मैंने कुछ लिखा नही।"

" ········तो देखो। बाते उन पनिहारिनों की, इन हरे भरे खेतो की, ढोर और पशु-पक्षियो की—सारे जगत् को भोजन देनेवाले इन श्रमिक किसानो की—इन्ही में जीवन है—इन्हीं से जीवन है। और भी क्या कोई बात है! जिससे जीवन का डका बजता है वही बात। और दूसरा ·· ·· · "

"दादा, नहाना नही है क्या?" यह बात सुन कर हम दोनों ही चौक पडे। गोपाल काका को माली का लड़का बुला रहा था।

"देखो मुरली, देखी मेरी बात ! मैं यहाँ निश्चिन्त हो कर बैठा हूं। किसी बात की चिन्ता नही। और तुम—तुम तो इन बातो मे ही भूल गये।"

"पर काका, इन्ही बातों को लिख भेजूँ तो ?"

"नही, नही, भाई। माफ करना। इस उमर मे मुझे छापे पर नही चढना है।.........लो, मैं तो चला। आना किसी दिन अपनी काकी के पास।........पर तुम शहरी लोग, हमारे यहा क्यो आने लगे !"

इतना कह कर गोपाल काका चले गये। और बात ही क्या—सारा वातावरण बदल गया। मै पत्र के व्यवस्थापक और कहानी की बात सोचता बैठा रहा।

कहाँ वह जीवन और कहाँ हमारी ये क्षुद्र कहानियाँ !

जीवन-साहित्य

[एक कल्पित साहित्यिक की ज़बानी]

वह रव-हीन जीवन-पथ। चापल्य के अभाव मे गम्भीरता की वह सृष्टि। जीवन के उस सुवर्णमय प्रातःकाल मे भी शिशिर-स्नाता प्रकृति की वह अश्रु-मुक्तामयी शोभा। गतिशीला रजनी, गगन के मुक्त वातायन से चन्द्रकला का वह उन्मुक्त प्रसार, आलोकमयी धरित्री के वक्ष पर बाल-समाज की वह प्रसन्न क्रीड़ामयी ध्वनि, उस आनन्दमय कोलाहल मे भी हृदय के अन्तराल मे दूर—अति दूर से आता हुआ कोई करुणामय विदग्ध स्वर। सृष्टि का गतिमय परिवर्तन, पावस मे प्रकृति का वह अश्रुसिक्त मुखमण्डल, भास्कर की प्रचण्ड किरणों का वह करुण अवसान, निस्तब्ध नीरव निशा मे बादलों का वह प्रलय-गर्जन, रात्रि की अभेद्य कालिमा मे चपला की चचल आलोक-लहरी, वर्षा के इस ताण्डव मे भी नीड़स्थित विहग-शावको का प्रसन्न सगीत, प्रकृति की विषण्णता से विदग्ध हृदय मे अननुभूत प्रसन्नता का एक अद्भुत

आवेग।……एक ही साथ हृदय के दो दो भाव। आनन्द और वेदना का ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण। प्रकृति के साथ मानव-जीवन का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध। प्रकृति की गति के साथ मानव-जीवन की गति का यह सादृश्य। हमारे उस अभिनव क्रीड़ामय जीवन मे भी आत्मा की वह आकुलता। ममता में कठोरता और कठोरता मे ममता—बाल्य-जीवन के उस कल्पनातीत मनोहर गतिमय दिनो मे भी ससार का वह सुख-दुखमय चक्र! (भावुक होना भी कितना बड़ा अपराध है।) किन्तु वह समय दूसरा था। यह सब अनुभव करते हुए भी समझने की शक्ति नहीं थी। आज जब अपने गत जीवन पर एक दृष्टि डालता हूँ तो स्मृति-पट पर वेदनामयी स्मृतियाँ एक एक कर के अकित हो जाती हैं।

× × ×

मधुर मधुर स्वप्नो का वह युग। समय की गति के साथ अनुभव की वृद्धि होती गई। योग्य पथ-प्रदर्शक ने जीवन की बागडोर हाथ मे सँभाली। साहित्य का अनुशीलन प्रारम्भ हुआ। कल्पना का साम्राज्य धीरे धीरे और विस्तृत होने लगा। भावुकता बढ़ती गई। करुणा और सरसता ने हृदय में स्थायी रूप से स्थान प्राप्त किया। हर्ष और विषाद की झड़ियो से नेत्रों के स्रोत सर्वदा परिपूर्ण रहने लग गये। आह! उस रुदन में कितना आनन्द है इसे वही जान सकता है जिसने कभी इन पवित्र बूँदो से अपनी आत्मा की कलुषता को धोने का प्रयत्न किया हो। भावुकता की वृद्धि के साथ हृदय के भाव अधिक कोमल होते गये। मामूली से आघात से ही हृदय मे वेदना के बादल छा जाते और आँखे बरसने लगती। किन्तु साहित्य का यह अनुशीलन कम न हुआ। दिन

पर दिन उधर आकर्षण बढता ही गया। साहित्य जीवन का एक अग हो गया—भावुकता आत्मा की ध्वनि और कल्पना प्राणों की सहचरी।

स्वप्नो का साम्राज्य बढ चला। किसी प्रकार की चिन्ता न थी। मन में किसी प्रकार का विचार न था। बाल-सुलभ चपलता में भी गम्भीरता का समावेश—स्वभाव और साहित्य का तारतम्य बॅध गया। जीवन—बचपन की मधुर स्मृतियो से भरा हुआ वह मधुमय जीवन स्वप्नमय हो उठा। उन दिनो का वह आनन्द, आह! जीवन मे क्या फिर कभी वे दिन आ सकते हैं! जिसकी स्मृति मात्र से आज भी इस शोकघनाच्छादित हृदय कमल की पखुडियाॅ खिल उठती हैं, वह मधुर जीवन—कैसा प्यारा, कैसा मधुमय, किन्तु आज कितना वेदनामय!

सहसा उन स्वप्नों का तार टूट गया। जीवन के कठोर कर्त्तव्य को समुचित रीति से पालन करते हुए भी एक अटपटे अभियोग के साथ विदेश-प्रवास। उस भोले जीवन मे वेदना का वह पहला आघात था। भावुकता ने जीवन में गम्भीरता और एकान्तप्रियता का सचार किया था। जो इस छलना के प्रभाव मे नही पडे वे क्या जानते कि साहित्य के प्रभाव में जीवन की विचारधारा किधर जाती है। आज भी विपरीत दिशा की ओर जीवन-तरी को ले जाने का सतत प्रयत्न करते रहने पर भी हृदय की प्रायः वही दशा है। सोचता हूॅ—यह जीवन का अभिशाप है या आशीर्वाद। अस्तु। उस अभियोग का वर्णन करना यहाॅ उद्देश्य नही है। मेरे हृदय पर उसका प्रभाव स्थायी रूप से पड़ा। जीवन में प्रथम बार जगत् की विषम प्रवृत्ति की ओर ध्यान गया। स्वार्थमय ससार की कलुष मूर्ति पहली बार दिखाई दी। उस मधुमय

स्वप्न की शृङ्खला में एक अननुभूत पीड़ा का उदय हुआ । इस विषादमय जीवन का यही प्रारम्भ था । मैं भाराक्रान्त हृदय लिये हुए जीवन की उस एक भूल (?) का प्रायश्चित्त करने के लिये, निराशा और आशा, वर्तमान और भविष्य, वेदना और मधुरिमा के हिंडोले पर झूलता हुआ, उस सुखदा-शान्तिदा मातृभूमि की गोद से—जिसने अपने हृदय के रक्त से मेरी विचार-वल्लरी का सिंचन किया था—एक दीर्घकाल के लिये प्रवासित कर दिया गया !

× × ×

वह दीर्घ प्रवास । आशा और उत्साह से भरा हुआ वह जीवन । मातृभूमि से बिदा लेते समय साश्रुनयनों से यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक इस अपवाद का पूर्ण प्रतिकार न कर लूँगा, तब तक स्वदेश को नहीं लौटूँगा । इसी प्रतिज्ञा का सर्वदा ध्यान रहता था । साहित्य जीवन का अंग उसी प्रकार बना रहा । भावुकता तब भी प्राणों मे एक मधुमिश्रित व्याकुलता की सृष्टि करती थी । किन्तु प्राणों की इस व्याकुलता को प्राणों के भीतर ही छिपाने की कोशिश करता । यही ख्याल रहता कि इस विदेश में लोगों के भाव मालूम नहीं कैसे होते होंगे । और सहपाठी अपनी अपनी मंडली मे हास्य-विनोदपूर्ण बाते करते हुए एक आनन्दमय जीवन व्यतीत करते थे । किन्तु मैं प्रेम की स्रोतस्विनी को हृदय मे लिये हुए नीरव, शान्ति-विहीन जीवन व्यतीत कर रहा था । उस अवस्था में माता की मधुर गोद से बिछुड कर, मातृभूमि की शान्तिदायिनी वैभव-गरिमा से परित्यक्त हो कर विदेश मे प्रेम-विहीन एकान्त जीवन किस प्रकार बीत रहा था इसे कल्पना ही बता सकती है । किन्तु यह सभी

मुझे अपनी उस प्रतिज्ञा की याद दिलाते और मैं अधिक अध्यवसाय-पूर्वक अपने अध्ययन मे लग जाता। अध्ययन से बचे हुए समय मे फिर वही भावुकता का साम्राज्य (इस समय मैंने अपने हृदय की इस भावुकता को शब्दो के जाल मे प्रकट करने का प्रयत्न किया था, किन्तु सफल नही हो सका)। शायद इसी लिये मैं अपने को सर्वप्रिय नही बना सका।

प्रवास के दिन धीरे धीरे बीत रहे थे। मुझे अपने इस जीवन मे सफलता पर सफलता मिलने लगी। सफलता के उत्साह ने मुझे और अधिक प्रयत्नशील बना दिया। इस बीच में मातृभूमि ने मुझे याद किया था किन्तु मुझे अपनी प्रतिज्ञा का ध्यान आ जाता।

मैं ध्यानपूर्वक अपने अध्ययन मे रत रहा। अन्तिम बार मुझे अभूतपूर्व सफलता मिली। सभी के मुँह पर मेरा नाम था। मैं सफलता के आनन्द मे मग्न हो कर खुशी से नाच उठा। उस समय मातृभूमि ने फिर आग्रहपूर्वक मुझे याद किया। मानी का मान भग हुआ। पूरे डेढ वर्ष बाद मैं आनन्द से परिपूर्ण हृदय लिये हुए स्वदेश की ओर चला। किन्तु चलते समय याद आया—कैसे और किस अवस्था मे आया था और किस प्रकार जा रहा हूँ। हृदय मे ससार के दुख-सुखमय चक्र का प्रकाश विस्तृत रूप से फैल गया। भावुकता ने अपना प्रभाव दिखाया। आँखो से अश्रुधारा बह चली।

× × ×

प्रेम का वह अविरल प्रवाह। स्नेह का वह मधुमय आदान-प्रदान। कुछ दिन स्वदेश मे रह कर मैं लौट आया। किन्तु इस बार यहाँ

आने के बाद ही जीवन का एक नया क्रम शुरू हुआ। कुछ ऐसे साथी मिले जिन्होंने मेरे जीवन की दिशा मे एक नवीन मधुर अभिनव परिवर्तन की सृष्टि की। आने के बाद से ही मैं देखता था कि ये नये नये साथी और लोगों से निराले हैं। इनकी प्रत्येक गतिविधि मे मतवालापन, भावमयी आकुलता, अनुराग की लालिमा परिलक्षित होती थी। मेरा हृदय इधर आकृष्ट हुआ। मुझे मनचाही चीज मिल रही थी। परस्पर विचार-विनिमय हुआ। उन्होंने मेरे भावों को पहचाना, उनका आदर किया। हम लोग स्नेह-सूत्र मे आबद्ध हो गये। जीवन-सरिता की धारा एक नवीन दिशा में प्रवाहित हो चली।

कुछ दिन बाद प्रेम की रगभूमि में एक नवीन अतिथि ने प्रवेश किया। वह श्याम मधुरिमा, वह भोला लावण्य, वह सरल स्निग्ध स्नेहभरी चितवन, पवित्र निश्छल हृदय मे स्नेह की वह अजस्र धारा। आज भी हृदय मे स्नेह मन्दिर की सुभग वेदिका पर श्याम घन के समान सुन्दर, सरस एव गम्भीर वह मूर्ति प्रतिष्ठित हो रही है। उन निर्मल आँखों की पवित्र ज्योति से ज्योति मिलते ही मन पर एक विचित्र प्रभाव पडा। हृदय ने हृदय के भावों को पढा। होठों पर पवित्र मुस्कान की एक रेखा दौड़ गई। दोनों के प्राणों की तन्त्रियाँ बज उठीं। दोनों हृदय एक हुए।

मजारो की उस दुनिया को उस समय तक मैंने साधारण दृष्टि से ही देखा था। उसने मुझे बताई मिट्टी के उन ढेरों की कीमत—तीन हाथ जमीन के जीवन की फिलॉसफी—पत्थर के एक छोटे से टुकडे की जिन्दगी का अभिशाप! कितना दर्द था इनमे! कितनी आँखो के

मोती, कितने ही कलेजो के नूर रज के इन थोडे से कणों की अनन्तता मे बिखर पडे थे ! कितने ही कवियों की असीम प्रेरणा को इनसे जीवन और जागृति मिली थी। कितने ही योगियों की साधना को इनसे अमरता प्राप्त हुई थी। और एक दिन एक ऐसी ही समाधि के सिरहाने खडे हो कर मेरे भी जीवन के सगीत की पहली ध्वनि निकली। वह समाधि किसकी थी ? कहना नही चाहता। किन्तु मजारो की दुनिया में सब बराबर हैं और यह उसके साथ का प्रथम पुष्प था जिसने समता के सौरभ से मेरे हृदय को प्रफुल्लित कर दिया था।

हृदय को अब अपने चिर-सचित भावों को प्रकट करने का अवसर मिला। साहित्य ने आज तक जो प्रभाव हृदय पर डाला था उसे व्यक्त करने का विस्तृत क्षेत्र सामने आया। भावुकता का प्रवाह बह चला। भाषा कवितामयी हो उठी। प्रयत्न करने पर भी जो काम नही कर सका था वह अपने आप होने लगा। उपयुक्त अवसर पा कर साहित्य ने अपना खजाना खोल दिया। भावों ने सहायता दी। भाषा का प्रवाह अप्रतिहत गति से अग्रसर हुआ। उस प्रवाह मे बह चला वेदना का वह अनन्त स्पन्दन, भावों की वह अखिल गति, हृदय की वही अनन्त मधुरिमा।

दोनो प्रायः साथ ही साथ रहते। मजारों की वह दुनिया हमारी खास बैठने की जगह हो गई। नये नये साहित्यों का अनुशीलन प्रारम्भ हुआ। मैंने देखा—साहित्य ने उसके जीवन पर, उसकी आत्मा पर, उसके हृदय पर मुझसे कहीं अधिक प्रभाव डाला है। मैंने देखा—उसके हृदय मे बिना मधुरिमा के और कुछ है ही नही। मुझे वहाँ मात्र

कोमलता और सरसता का सम्पुट मिला। मैं उन्मत्त हो उठा। मुझे जीवन मे वह चीज मिली जिसकी कीमत शायद दुनिया की सभी नियामते नही लगा सकती। आज भी जब कभी वह मेरे पास आता है तो हृदय और सब कुछ भूल जाता है। ऑखो मे अनुराग की वही लालिमा छा जाती है। हृदय में स्नेह का वही उन्माद प्रादुर्भूत होता है। आत्मा उसी मे तन्मय हो जाती है। मन और प्राण केवल उसी की मधुरिमा मे मस्त हो उठते हैं। जब वह चला जाता है, तब खुमारी टूटती है। हृदय हाहाकार कर उठता है। आह! ससार की कष्टप्रद छलनामयी लीला! काश, मैं उसे अपने प्राणो मे छिपा कर रख सकता!

× × ×

क्रान्ति के वे दिन। परीक्षा की वह कसौटी। उस कसौटी पर कसे जा कर कितने ही चमक दमक दिखलानेवाले सर्प की तरह केंचुल बदल कर अपनी वास्तविक प्रकृति को प्राप्त हुए। दो एक ऐसे भी थे जो इस परीक्षा की अग्नि मे से तपे हुए सोने की तरह और भी उज्ज्वल, और भी कान्तिवान हो कर निकले। भय और आशका से भरे हुए वे दिन! आह! इन दिनो मे कितनी ही ठोकरे खाई। कितने ही कड़ुवे कड़ुवे अनुभव हुए। कितनी ही बार वेदना की अजस्र धारा मे हृदय को बेलाग बह जाना पडा। आज भी उन दिनो को याद करके हृदय से एक वेदनामयी आह निकल जाती है।

हमारे शिक्षा-क्षेत्र मे क्रान्ति मची हुई थी। शिक्षक और शिष्य के पवित्र नाते पर कलक लगाया जा रहा था। शिक्षक शिष्य के विरुद्ध

और शिष्य शिक्षक के विरुद्ध षड़यन्त्र करने मे लगे हुए थे। स्वार्थ और न्याय का सग्राम चल रहा था। सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश मैं भी उस क्रान्ति की लहरों मे बह चला। कह नहीं सकता कि इसमे पड़ कर मुझे जीवन मे कुछ लाभ हुआ या नही। अनुभव-हीनता और औद्धत्य के उस प्रवाह मे, अविचार और अनाचार के उस युग मे जीवन को कुछ वास्तविक प्राप्ति हुई या नही। किन्तु एक बात अवश्य हुई। ससार का वह रूप जो अभी तक, हृदय के केवल मधुर रस मे लिप्त रहने के कारण अन्धकार मे छिपा हुआ था, आँखो के सामने आ गया। दुनिया का वह स्वार्थ से भरा हुआ भयानक स्वरूप अपनी सम्पूर्ण विभीषिका लिये हुए सामने उपस्थित हुआ। हृदय की कोमल भावनाओं को भीषण आघात लगा। विषाद की एक अमिट छाया सर्वदा के लिये हृदय मे अपना घर कर गई।

वह एक जीवन था जिसमे भावुकता अनुभव-हीनता के पथ पर प्रवाहित हो रही थी। इसी कारण उस जीवन में वेदना का इतना कटु अनुभव करना पडा। हृदय के चिर सचित प्रेम को किसी पर प्रकट करने की अभिलाषा से अनेकों को अपनाया। किन्तु जब अवसर आया तो कोई भी अपना नहीं हुआ। जिसको अपनाया उसी ने वेरहमी से ठुकराया। जिस पर जान दी उसी ने दगा दी। जिसको हृदय दिया उसी ने उसे निष्ठुरतापूर्वक कुचल डाला। उस समय हृदय ने पूछा—क्या साहित्य ने मुझे केवल उन्माद ही दिया? क्या उस उन्माद का यही अन्त होना था? क्या ससार मे केवल स्वार्थ का व्यापार है? क्या यहाँ वास्तविकता का आलोक नही है? क्या यहाँ स्नेह की मजुल

शान्ति नहीं है ? आह ! अभागे हृदय, क्या साहित्य का यह पुनीत भावनामय उपहार तेरे योग्य है !

सोचा—जैसा अकेला आया था वैसा ही अकेला रह गया वही शुष्क प्रेमरहित जीवन । इस स्थिति मे अपना कोई न रहा । इतने दिनो तक जो कुछ हुआ वह केवल स्वार्थ का ही अखाडा रहा । प्रेम की तरलता कहीं न मिली । हृदय मे वेदना का एक तूफान सा उठ रहा था । आँखो मे परिताप का सागर उमड रहा था । सहसा श्याम की वशी के समान उसी घनश्याम ने एक बार फिर प्रेम की सगीत-सुधा से मेरे हृदय को तरगित कर दिया । जीवन धन्य हो गया । हृदय को विश्वास हुआ कि इस अवनति-कुण्ड मे भी अभी ऐसे रत्न पडे हुए हैं जिनसे जीवन का शृङ्गार किया जा सकता है । जीवन की वह करुण धारा उसकी अलौकिक विभूति से परिपूर्ण हो गई । वह पावन प्रणाम, वह अनुपम उपहार कितना निर्मल, कितना पवित्र था । आज जब उसकी स्मृति हृदय मे उदय होती है तो मन मूक वेदना से उसका स्वागत करता है । आज भी वह स्मृति कभी कभी हृदय को रुला जाती है ।

जिस प्रकार जल-प्रवाह मे बहते हुए दो तिनके आपस मे मिलते हैं और बिछुड जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जीवन-प्रान्त में अनेको पथिक आये और चले गये, पर उन बिछुडे हुए पथिकों के लिये आज भी हृदय मे वही प्रेम, वही आदर है । हृदयाकाश मे कई तारे उदय हुए और बिखर कर लुप्त हो गये । किन्तु उनकी क्षीण स्मृति छटा अभी भी वर्तमान है ।

इसी पावन प्रवाह मे उसका मिलन हुआ। वह मिलन अनन्त था। उसकी उज्ज्वल आभा आज भी कम नहीं हुई है। आज भी नील गगन मे दो तारे निरन्तर एक दूसरे की अविरल गति से परिक्रमा करते रहते हैं !

× × ×

ससार का वह निर्मय आदेश। स्वार्थ की वेदी पर भावो का वह करुण बलिदान। जब स्वदेश मे रहता तो यही सोचता कि चलो, कुछ दिन के लिये साहित्यावलोकन का अच्छा अवसर मिला। प्रभाकर की किरण-माला, वर्षा की शीतल सलिल-धारा, सुमधुर गन्धवाही समीर, गगन की अनन्त नीलिमा, सरिता के स्वच्छ सलिल की वह अनुपम सौवर्ण सान्ध्य-श्री-प्रकृति का वह परमोत्कृष्ट वैभव मेरे हृदय को उन्मत्त बना देता। मैं प्रकृति के उस रम्य उद्यान मे सर्वदा साहित्य-सुधा का पान करने की चेष्टा किया करता। कल्पनामय जगत् मे स्वप्नो की माया मे ही हृदय भटका करता।

किन्तु स्वप्नों का वह जाल बिखर गया। स्वार्थमय ससार का संकेत मिला—जीवन केवल मधुर स्वप्न नहीं है। ससार केवल भावुकता का प्रवाह नहीं है। जीवन एक कठोर सत्य है (वह सत्य क्या है इसे कितने लोग जानते हैं ! किन्तु जिस तात्पर्य से इसका साधारण रूप मे व्यवहार होता है उसी से यहाँ मतलब है)। आदेश मिला—इस साहित्य के जाल को तोडना होगा। वास्तविकता की ओर पैर बढ़ाना होगा। आह ! वास्तविकता !

सामाजिक कुरीतियों का वह समूह। पारिवारिक जीवन। उद्देश्य-सिद्धि का वह मायामय जाल। स्वार्थ की वह छलमयी माया। विद्रोह की वह निदारुण विडम्बना! सभी ने मिलकर शान्तिमय जीवन मे एक तूफान सा पैदा कर दिया। सोचा—यदि मेरा भी हृदय ऐसा ही होता। मुझे यह दिल ही क्यो मिला? यदि मेरा हृदय भी ससार के इस कठोर सत्य (?) की विभूति से परिपूर्ण होता तो मैं भी क्या आज इस ससार के योग्य न होता?

प्रकृति की वह विध्वस-लीला। दो दिन पहले सब वैभव मे मस्त थे। चारो ओर हँसी-खुशी का साम्राज्य था। समृद्धि और साधन के सयोग से आनन्द का उच्छृङ्खल प्रवाह अप्रतिहत गति से चला जा रहा था। किन्तु कौन जानता था कि दो ही मिनट बाद प्रकृति का एक ऐसा भयकर विप्लव होगा जिसमे पड़ कर अलका के समान यह वैभव केवल विध्वस के एक निदारुण निःश्वास मे परिवर्तित हो जायगा!

वहाँ के दृश्यो को देख कर हृदय विचलित हो गया। आह! इस जीवन का, इस वैभव का, इस समृद्धि का, स्वार्थमय ससार मे जीवन की स्थिति का क्या ठिकाना है! मायामय ससार, तुम्हारी क्या गति है! जब तक रहे तब तक ससार को अपनी प्रतिभा से चकित कर दिया। धनवाले ने धन के बल से त्रिभुवन के ऐश्वर्य को अपने वश मे किया। बुद्धिवाले ने अपने बुद्धि-बल से विश्व मे क्रान्ति मचा दी। बलवाले ने अपनी शक्ति से ससार-विजय करने की ठानी। किन्तु अन्त

मे क्या हुआ ? धडकते हुए हृदय को सँभालने भी न पाये थे कि विध्वस ने अपना काम समाप्त कर दिया। ससार की समृद्धि ससार में ही रह गई। मिला क्या ? सब को वही साढ़े तीन हाथ का खाक का बिस्तर !

बडे बडे भवन मिट्टी मे मिले हुए थे। शृङ्गार और वैभव के सामान खाक मे लोट रहे थे। माता के लाडले लाल, गर्व से ऊँचे उठे हुए मस्तक ईंट ओर पत्थरो के ढेर मे पडे हुए थे। बियाबान का श्मशान भी अपनी दीनता के आँचल में शायद उन पर हँस रहा था !

यही है जीवन की स्थिति। इसी स्थिति के लिये मनुष्य इतना प्रयत्नशील रहता है। अनेको कष्ट उठा कर, कितने ही छल-प्रपच रच कर, वर्षों की यातनाओ को सहन करके वह अपने समृद्धि-सौध की दीवाल खडी करता है। किन्तु यह दीवाल इतनी कच्ची ! हवा के एक झोके मे ही सब समाप्त ! किस लिये दुनिया में आज इतनी चहल पहल है ? किस लिये लोग निरन्तर इतना कष्ट उठा रहे हैं ? किस लिये आज ससार में कर्मशीलता का इतना हाहाकार मचा हुआ है ? मानव-जीवन की इसी स्थिति के लिये तो ? वह स्थिति इतनी निर्बल ! उस स्थिति का इतना भी पता नही ! दूसरे ही क्षण क्या होगा—इसका भी भरोसा नही !

सब बातो को सुना। उन करुण दृश्यो को आँखो से देखा। लोगो की हृदय-विदारक चीत्कार को कानों से सुना। और देखा—प्रलय के

समान जल-प्रवाह मे भी उस करुणामय नाविक ने लोगों की डूबती हुई जीवन नौका को किनारे लगाया है—ईंट और पत्थर के ढेर मे भी उस दयामय रक्षक के करुणा-हस्तो ने निर्दोष निरीह जीवन की रक्षा चतुरतापूर्वक की है। लीलामय, यही है तेरी लीला! यही है जीवन की सफलता! इस क्षणिक सारहीन जीवन में करुणामय की करुणा का यह अद्भुत प्रसार! इसी का अनुशीलन है मानव-जीवन का उद्देश्य। आज इस विध्वस मे भी इतना वैभव! दयासागर, तेरे इस मधुर सकेत की जय हो!

× × ×

भावी जीवन का मधुर चित्र। भविष्य की सुन्दर कल्पना। किन्तु क्या ससार मे सभी की कल्पना सफल होती है? क्या इस दुखमय ससार मे सभी के मनोहर स्वप्न सत्य होते हैं? आज कितने ही लोग अपनी प्रकृति के विरुद्ध कार्य करते हुए दुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। किन्तु क्या ससार को इस ओर नजर डालने की फुरसत है? आज जीवन मे कितने ही लोग ससार की बाधाओं से, जीवन की यातनाओं से, दुनिया की विषम आलोचनाओं से बाध्य हो कर अपनी आत्मा की प्रेरणाओ के विरुद्ध वेदनायुक्त विषादमय जीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु क्या ससार को इसकी कुछ चिन्ता है? वह तो अपनी उसी स्वाभाविक गति से चला जा रहा है। यही मानव-जीवन की स्थिति है। इसी पर सृष्टि का चक्र अवलम्बित है। यही तो जीवन-सग्राम है!

इच्छा तो यही थी कि साहित्य के क्षेत्र मे आगे बढ़ूँ। यही अभिलाषा थी कि साहित्य के सागर मे गोते लगाऊँ। किन्तु जब अपने चारों

ओर नजर डालता हूँ तो निराश होना पडता है। आज जब आलोक-माला से सुसज्जित इस नगरी की सडको पर चलता हू तो ऐमा जान पड़ता है जैमे कही दूर—अनि दूर—पृथ्वी के अतल गर्भ मे किसी स्वप्न-प्रदेश की आलोकमयी छाया दिखाई पड रही हो। आज जब किसी का कातर आह्वान सुनता हू तो हृदय से करुणा का स्रोत बह निकलता है। आज जब जीव-लोक की इस करुणाजनक स्थिति को देखता हू तो यही विचार उठता है कि क्या यही लोगो का सोने का ससार है ! क्या इम स्थिति का कुछ अन्त नहीं है ? क्या मनुष्य अपने जीवन को सुन्दर, सुखद, साधनामय नही बना सकता ? किन्तु सासारिक स्थिति मेरी इन विचार-धाराओं से सहमत नहीं है। वहाँ साहित्य की इन कोमल भावनाओं की आवश्यकता नहीं। वहाँ करुणा से भीगी हुई इन आँखों की जरूरत नही। वहाँ तो आँखों मे दर्प की कठोरता चाहिये। वहाँ हृदय मे कोमलता की आवश्यकता नही। वहाँ तो स्वार्थ-पूर्ण कठोर साधनो का साम्राज्य चाहिये। वहाँ स्वप्नो और मधुर कल्प-नाओं का यह देश नहीं। वहाँ तो स्थिति की कठोरता सर्वदा हृदय को भयभीत किये देती है। सोचता हू—जब साहित्य के प्रवेश-द्वार पर ही हृदय की यह दशा है तो आगे जो महासागर लहरा रहा है उसमें ता इस जीवन का पता ही न लगेगा।

प्यारे साहित्य, बिदा ! ससार का कठोर सत्य (!), यह जीवन सग्राम मेरा आह्वान कर रहा है। इसलिये तुझसे चिर-काल के लिये बिदा ! किन्तु जो जीवन का अग हो गया है, जो हृदय की प्रतिध्वनि हो चुका है, जो आत्मा की आवाज है, जो प्राणो की प्रेरणा है उसे क्या अपने

से अलग किया जा सकता है? जीवन में क्या कभी तुझे भूल सकता हूँ! ये कोमल भाव, हृदय की ये करुणामयी भावनायें, जीवन का यह वेदनामय स्वर क्या कभी दूसरे हो सकते हैं! इसी से आज इच्छा होती है कि इससे तो जीवन का वह प्रभात ही अच्छा था जब सब कुछ अनुभव करते हुए भी समझने की शक्ति न थी। हृदय की इस वेदनामयी दाह से तो वह भोलीभाली व्याकुलता ही अच्छी थी। किन्तु.........क्या और स्वप्नों की भाँति यह भी व्यथित का एक असफल स्वप्न नहीं है!
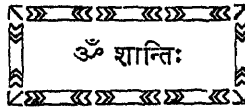
तरुण-भारत-ग्रन्थावली

१	प्राणायाम-रहस्य	१॥)	२१.	दयालु माता	।=)
२.	गार्हस्थ्यशास्त्र	१)	२२.	सद्गुणी पुत्री	।=)
३.	धर्मशिक्षा	१)	२३.	बच्चों की सचित्र कहानियाँ, पाँच भाग मू० प्रत्येक का	।=)
४	सदाचार और नीति	।॥)	२४	कालिदास और उनकी कविता	१)
५.	हृदय का काँटा	१॥)	२५.	सुभाषित और विनोद	१॥)
६.	बिखरा फूल	१॥)	२६.	भावविलास	१॥)
७.	फूलवाली	२)	२७	साहित्यसीकर	१)
८.	जीवन का मूल्य	१॥)	२८.	साहित्यसुषमा	१॥)
९	रक्तरंजित स्पेन	१)	२९.	गोराबादल की कथा	।=)
१०.	हमारे बच्चे	१)	३०.	निशीथ	।॥)
११.	भोजन और स्वास्थ्य पर म० गांधी के प्रयोग	।॥)	३१.	गुजरात की वीराङ्गना	।॥)
१२.	ब्रह्मचर्य पर म० गांधी के अनुभव	॥)	३२	निःश्वास	॥=)
१३.	सचित्र दिल्ली	।॥)	३३.	एब्राहम लिंकन	।॥)
१४.	अपना सुधार	॥=)	३४.	रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत	१॥)
१५	महादेव गोविन्द रानडे	।॥)	३५.	अर्चना-कविता	१॥)
१६.	इच्छाशक्ति के चमत्कार	।-)	३६	वेदान्त-रहस्य	१।॥)
१७	हमारा स्वर	।-)	३७	महरू महराज की प्रवास-कथा	।)
१८	उषःपान	।-)	३८.	मराठों का उत्कर्ष	२)
१९	फ्रांस की राज्यक्रान्ति	१।)			
२०.	साम्यवाद के सिद्धान्त	॥)			

पता—लक्ष्मी-आर्ट-प्रेस, दारागञ्ज, प्रयाग।